# विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन,
विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

वर्ष : २८ अंक २

निर्माण कार्य जैसा भी हो
सेन्चुरी सीमेन्ट
सर्वोत्तम है
CENTURY'S
VISHWAKARMA
PORTLAND CEMENT
सेन्चुरी सीमेन्ट द्वारा उत्पादित
'विश्वकर्मा' ब्रान्ड सीमेन्ट
शक्तिशाली पकड़ एवं दीर्घकालीन
टिकाऊपन के लिए विश्वसनीय सीमेन्ट है।
निर्माता· सेन्चुरी सीमेन्ट
पो. आ. बैकुण्ठ -493116 जिला: रायपुर (म.प्र.)
टेलेक्स: 0775-225 CCBIN ★ टेलीग्राम: 'CENCEMENT'
फोन: 23, 24, 25, 27, 28, 30, 34, 39.

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल—मई—जून

* १९९० *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी गौतमानन्द

सह सम्पादक

स्वामी निखिलात्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

ार्षिक १०)

वर्ष २८
अंक २

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)—१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

# अनुक्रमणिका



□


मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर–४५२ ००९ (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २८] अप्रैल-मई-जून ★ १९९० ★ [अंक २

## भय कहाँ नहीं ?

**भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं**
**माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।**
**शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं**
**सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ।।**

भोग में रोग का भय है; सामाजिक प्रतिष्ठा में गिरने का भय है; धन में राजाक्रोश का भय है; सम्मान में अनादर का भय है; बल में शत्रु का भय है; सौंदर्य में बुढ़ापे का भय है; शास्त्र ज्ञान में वादी का भय है; गुण में खल का भय है; शरीर में मृत्यु का भय है। मनुष्य से सम्बन्धित संसार की सभी वस्तुएँ भय से युक्त हैं, एकमात्र वैराग्य ही भय से रहित है।

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्', ३१

# अग्नि-मंत्र

(गुरुभाइयों के लिए लिखित)

न्यूयार्क
२५ सितम्बर, १८९४

कल्याणीय,

तुम लोगों के कई पत्र मिले। शशि आदि जो तहलका मचाये हुए हैं, यह जानकर मुझे बड़ी खुशी होती है। हमें तहलका मचाना ही होगा, इससे कम में किसी तरह नहीं चल सकता। इस तरह सारी दुनिया भर में प्रलय मच जायेगी, वाह गुरु की फतह! अरे भाई, **श्रेयांसि बहुविघ्नानि**—महान् कार्यों में कितने ही विघ्न आते हैं—उन्हीं विघ्नों की रेल-पेल में आदमी तैयार होता है। चारु को अब मैं समझ गया हूँ। जब वह लड़का था, मैंने उसे देखा था, इसीलिए उसका मतलब नहीं भाँप सका था। उसे मेरा अनेक आशीर्वाद कहना। अरे, मोहन, यह मिशनरी-फिशनरी का काम थोड़े ही है, जो यह धक्का सँभाले? अब मिशनरियों के सर पर मानो विपत्ति आ गई है, जो बड़े बड़े पादरी बड़ी बड़ी कोशिशें कर रहे हैं। लेकिन क्या इस 'गिरि गोवर्द्धन' को हिला सकते हैं भला? बड़े बड़े बह गये, अब क्या वह गड़रिये का काम है, जो थाह ले? यह सब नहीं चलने का भैया, कोई चिन्ता न करना। सभी कामों में एक दल वाहवाही देता है, तो दूसरा नुक्स निकालता है। अपना काम करते जाओ, किसी की बात का जवाब देने से क्या काम? **सत्यमेव जयते नानृतं, सत्येनैव पन्था विततो देवयानः**। (सत्य की ही विजय

होती है, मिथ्या की नहीं, सत्य से ही देवयान मार्ग की गति मिलती है।) गुरुप्रसन्न बाबू को एक पत्र लिख रहा हूँ। मोहन, रुपए की फिक्र न करो। धीरे-धीरे सब होगा।

इस देश में ग्रीष्मकाल में सब समुद्र के किनारे चले जाते हैं, मैं भी गया था। यहाँवालों को नाव खेने और 'याट' चलाने का रोग है। 'याट' एक प्रकार का हल्का जहाज होता है और यह यहाँ के लड़के, बूढ़े तथा जिस किसी के पास धन है, उसीके पास है। उसीमें पाल लगाकर वे लोग प्रतिदिन समुद्र में डाल देते हैं, और खाने-पीने और नाचने के लिए घर लौटते हैं; और गाना-बजाना तो दिन-रात लगा ही रहता है। पियानो के मारे घर में टिकना मुश्किल हो जाता है।

हाँ, तुम जिन जी० डब्ल्यू० हेल के पते पर चिट्ठियाँ भेजते हो, उनकी भी कुछ बातें लिखता हूँ। वे वृद्ध हैं और उनकी वृद्धा पत्नी है। दो कन्याएँ हैं, दो भतीजियाँ और एक लड़का। लड़का नौकरी करता है, इसलिए उसे दूसरी जगह रहना पड़ता है। लड़कियाँ घर पर रहती हैं। इस देश में लड़की का रिश्ता ही रिश्ता है। लड़के का विवाह होते ही वह और हो जाता है, कन्या के पति को अपनी स्त्री से मिलने के लिए प्रायः उसके बाप के घर जाना पड़ता है। यहाँ वाले कहते हैं—

Son is son till he gets a wife;
The daughter is daughter all her life.[1]

चारों कन्याएँ युवती और अविवाहित हैं। विवाह होना इस देश में महा कठिन काम है। पहले तो मन

१. लड़का तभी तक लड़का है, जब तक उसका विवाह नहीं होता, परन्तु कन्या जीवन भर कन्या ही है।

के लायक वर हो, दूसरे धन हो ! लड़के यारी में तो बड़े पक्के हैं, परन्तु पकड़ में आने के वक्त नौ दो ग्यारह ! लड़कियाँ नाचकूदकर किसी को फँसाने की कोशिश करती हैं, लड़के जाल में पड़ना नहीं चाहते । आखिर इस तरह 'लव' हो जाता है, तब शादी होती है । यह हुई साधारण बात, परन्तु हेल की कन्याएँ रूपवती हैं, बड़े आदमी की कन्याएँ हैं, विश्वविद्यालय की छात्राएँ हैं, नाचने, गाने और पियानो बजाने में अद्वितीय हैं : कितने ही लड़के चक्कर मारते हैं, लेकिन उनकी नजर में नहीं चढ़ते । जान पड़ता है, वे विवाह नहीं करेंगी, तिस पर अब मेरे साथ रहने के कारण महावैराग्य सवार हो गया है । वे इस समय ब्रह्मचिन्ता में लगी रहती हैं ।

मेरी और हेरियट हेल कन्याओं के नाम हैं और एफ० हेरियट और ईसावेल हेल भतीजियों के । दोनों कन्याओं के बाल सुनहले हैं, और दोनों भतीजियों के काले । ये 'जूते सीने से चंडी पाठ' तक सब जानती हैं । भतीजियों के पास उतना धन नहीं है, उन्होंने एक किंडरगार्टन स्कूल खोला है, लेकिन कन्याएँ कुछ नहीं कमाती । कोई किसी के भरोसे नहीं रहता । करोड़पतियों के पुत्र भी रोजगार करते हैं, विवाह करके अलग किराए का मकान लेकर रहते हैं । कन्याएँ मुझे दादा कहती हैं, मैं उनकी माँ को माँ कहता हूँ । मेरा सब सामान उन्हीं के घर में है । मैं कहीं भी जाऊँ, वे उसकी देखभाल करती हैं । यहाँ के सब लड़के बचपन से रोजगार में लग जाते हैं और लड़कियाँ विश्वविद्यालय में पढ़ती-लिखती हैं, इसलिए यहाँ की सभाओं में ९० फीसदी स्त्रियाँ रहती हैं, उनके आगे लड़कों की दाल नहीं गलती ।

इस देश में पिशाच-विद्या के पण्डित बहुत हैं। माध्यम (medium) उसे कहते हैं, जो भूत बुलाता है। वह एक पर्दे की आड़ में जाता है और पर्दे के भीतर से भूत निकलते रहते हैं, बड़े-छोटे हरे रंग के ! मैंने भी कई भूत देखे, परन्तु यह मुझे झांसापट्टी ही जान पड़ती है। और भी कुछ देखने के बाद मैं निश्चित रूप से निर्णय लूँगा। उस विद्या के पण्डित मुझ पर बड़ी श्रद्धा रखते हैं।

दूसरा है क्रिश्चियन सायन्स——यही आजकल सबसे बड़ा दल है, सर्वत्र इसका प्रभाव है। ये खूब फैल रहे हैं और कट्टरवादियों की छाती में शूल से चुभ रहे हैं। ये वेदान्ती हैं अर्थात् अद्वैतवाद के कुछ मतों को लेकर उन्हीं को बाइबिल में घुसेड़ दिया है और 'सोऽहम् सोऽहम्' कहकर रोग अच्छा कर देते हैं——मन की शक्ति से। ये सभी मेरा बड़ा आदर करते हैं।

आजकल यहाँ कट्टरपंथी ईसाई 'त्राहि माम्' मचाये हुए हैं। प्रेतोपासना (devil worship)[१] की अब जड़ सी हिल गयी है। वे मुझे यम जैसा देखते हैं। और कहते हैं, यह पापी कहाँ से टपक पड़ा, देश भर की नर-नारियाँ इसके पीछे लगी फिरती हैं——यह कट्टरपंथियों की जड़ ही काटना चाहता है।" आग लग गयी है भैया, गुरु की कृपा से जो आग लगी है, वह बुझने की नहीं। समय आयेगा, जब कट्टरवादियों का दम निकल जायगा। अपने यहाँ बुलाकर बेचारों ने एक मुसीबत मोल ले ली है, ये अब यह महसूस करने लगे हैं!

---

१. प्रेतोपासना : कट्टरपंथी ईसाई लोग हिन्दू तथा अन्य धर्मावलम्बी लोगों को प्रेतोपासक कहकर घृणा करते हैं।

थियोसाफिस्टों का ऐसा कुछ दबदबा नहीं है, किन्तु वे भी कट्टरपंथियों के पीछे पड़े हुए हैं ।

यह क्रिश्चियन सायन्स ठीक हमारे देश के कर्ताभजा[२] सम्प्रदाय की तरह है। कहो कि रोग नहीं है——बस अच्छे हो गये, और कहो, 'सोऽहम्'——बस, तुम्हें छुट्टी, खाओ, पियो और मौज करो। यह देश घोर भौतिकवादी है। ये क्रिश्चियन देश के लोग बीमारी अच्छी करो, करामात दिखलाओ, पैसे कमाने का रास्ता बताओ, तब धर्म मानते हैं, इसके सिवा और कुछ नहीं समझते। परन्तु कोई-कोई अच्छे हैं। जितने बदमाश, लुच्चे, पाखंडी, मिशनरी हैं, उन्हें ठगकर पैसे कमाते हैं और इस तरह उनका पाप-मोचन करते हैं। यहाँ के लोगों के लिए मैं एक नये प्रकार का आदमी हूँ। कट्टरतावादियों तक की अक्ल गुम है। और लोग अब मुझे श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे हैं। ब्रह्मचर्य, पवित्रता से बढ़कर क्या और शक्ति है !

मैं इस समय मद्रासियों के अभिनन्दन का, जिसे छापकर यहाँ के समाचार-पत्रवालों ने ऊधम मचा दिया था, जवाब लिखने में लगा हूँ। अगर सस्ते में हो जाय तो छपवाकर भेजूँगा। यदि महँगा होगा, तो टाइप करवाकर भेजूँगा। तुम्हारे पास भी एक कापी भेजूँगा, 'इंडियन मिरर' में छपा देना। इस देश की अविवाहित कन्याएँ बड़ी अच्छी हैं। उनमें आत्म-सम्मान है।... .

२. यह पतनशील वैष्णव मत की एक शाखा है। इसके अनुयायी ईश्वर को 'कर्ता' कहते हैं और झाड़-फूंक द्वारा रोग दूर करने के लिए प्रसिद्ध हैं।

ये विरोचन के वंशज हैं। शरीर ही इनका धर्म है, उसी को माँजते-धोते हैं, उसी पर सारा ध्यान लगाते हैं। नख काटने के कम से कम हजार औजार हैं, बाल काटने के दस हजार और कपड़े पोशाक, तेल-फुलेल का तो ठिकाना ही नहीं! . . .ये भले आदमी, दयालु और सत्यवादी हैं। सब अच्छा है, परन्तु 'भोग' ही उनके भगवान् हैं, जहाँ धन की नदी, रूप की तरंग, विद्या की वीचि, और विलास का जमघट है।

**कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।**
**क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥**

—कर्म की सिद्धि की आकाँक्षा करके इस लोक में देवताओं का यजन किया जाता है। कर्मजनित सिद्धि मनुष्य लोक में बहुत जल्दी मिलती है।"[1]

यहाँ अद्भुत चरित्र, बल और शक्ति का विकास है—कितना बल, कैसी कार्यकुशलता, कैसी ओजस्विता! हाथी जैसे घोड़े बड़े-बड़े मकान जैसी गाड़ियाँ खींच रहे हैं। इस विशालकाय पैमाने को तुम दूसरी चीजों में भी नमूने के तौर पर ले सकते हो। यहाँ महाशक्ति का विकास है—ये सब वाममार्गी हैं। उसीकी सिद्धि यहाँ हुई, और क्या है? खैर—इस देश की नारियों को देख-कर मेरे तो होश उड़ गये हैं। मुझे बच्चे की तरह घर-बाहर, दूकान-बाजार में लिए फिरती हैं। सब काम करती हैं। मैं उसका चौथाई का चौथाई हिस्सा भी नहीं कर सकता! ये रूप में लक्ष्मी और गुण में सरस्वती हैं—ये साक्षात् जगदम्बा हैं, इनकी पूजा करने में सर्व-

१. गीता ॥४।१२॥

सिद्धि मिल सकती है । अरे, राम भजो, हम भी भले आदमी हैं ? इस तरह की माँ जगदम्बा अगर अपने देश में एक हजार तैयार करके मर सकूँ, तो निश्चिन्त होकर मर सकूँगा । तभी तुम्हारे देश के आदमी आदमी कहलाने लायक हो सकेंगे । तुम्हारे देश के पुरुष इस देश की नारियों के पास भी आने योग्य नहीं हैं—तुम्हारे देश की नारियों की बात तो अलग रही ! हरे-हरे, कितने महा पापी हैं ! दस साल की कन्या का विवाह कर देते हैं ! हे प्रभु ! हे प्रभु ! किमधिकमिति ।

मैं इस देश की महिलाओं को देखकर आश्चर्यचकित हो जाता हूँ । माँ जगदम्बा की यह कैसी कृपा है ! ये क्या महिलाएँ हैं ? बाप रे ! मर्दों को एक कोने में ठूँस देना चाहती हैं । मर्द गोते खा रहे हैं । माँ, तेरी ही कृपा है । गोलाप माँ जैसा कर रही है, उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ । गोलाप माँ या गौरी माँ उनको मंत्र क्यों नहीं दे रही है ? स्त्री-पुरुष-भेद की जड़ नहीं रखूँगा । अरे आत्मा में भी कहीं लिंग का भेद है ? स्त्री और पुरुष का भाव दूर करो, सब आत्मा है । शरीराभिमान छोड़ कर खड़े हो जाओ । अस्ति अस्ति कहो, नास्ति-नास्ति करके तो देश गया ! सोऽहम्, सोऽहम्, शिवोऽहम् । कैसा उत्पात ! हरेक आत्मा में अनन्त शक्ति है । अरे अभागे, नहीं नहीं करके क्या तुम कुत्ता-बिल्ली हो जाओगे ? कौन नहीं है ? क्या नहीं है ? किसके नहीं है ? शिवोऽहम् शिवोऽहम् । नहीं नहीं सुनने पर मेरे सिर पर वज्रपात होता है । राम ! राम ! बकते कबते मेरी जान चली गई । यह जो दीन-हीन भाव है, वह एक बीमारी है—क्या यह दीनता है ?—यह गुप्त अहंकार है । **न लिंगं धर्मकारणं,**

**समता सर्वभूतेषु एतन्मुक्तस्य लक्षणम् । अस्ति, अस्ति, अस्ति, सोऽहम्, सोऽहम्, चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम् । निर्गच्छति जगज्जालात् पिंजरादिव केसरी ।**[1] बुजदिली करोगे, तो हमेशा पिसते रहोगे । **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः** ।[2] शशि ! बुरा मत मानना, कभी कभी मैं नर्वस हो जाता हूँ । तुम तो मुझे जानते ही हो । तुम कट्टर नहीं हो, इसकी मुझे खुशी है । बर्फ की चट्टान (avalanche) की तरह दुनिया पर टूट पड़ो—दुनिया चट चट करके फट जाय,—हर हर महादेव ! **उद्धरेदात्मनात्मानम्** (अपने ही सहारे अपना उद्धार करना पड़ेगा ) ।

रामदयाल बाबू ने मुझे एक पत्र लिखा है, और तुलसीराम बाबू का एक पत्र मिला । राजनीति में भाग मत लेना । तुलसीराम बाबू राजनीति विषयक पत्र न लिखें । जनता के आदमी को अनावश्यक रूप से शत्रु नहीं बनना चाहिए । ....इस तरह का दिन क्या कभी आएगा कि परोपकार के लिए जान जायगी । दुनिया बच्चों का खिलवाड़ नहीं है और बड़े आदमी वे हैं, जो अपने हृदय के रक्त से दूसरों का रास्ता तैयार करते हैं—अनन्तकाल से यही होता आया है एक आदमी अपना शरीर पात करके एक सेतु का निर्माण करता है, और हजारों

---

१. बाहरी चिह्न धर्म के कारण नहीं है । सर्वभूतों में समता रखना ही मुक्त पुरुषों का लक्षण है । (कहो) अस्ति अस्ति, वह मैं ही हूँ, वह मैं ही हूँ, मैं चिदानन्दस्वरूप शिव हूँ । जिस तरह सिंह पिंजरे से निकलता है, उसी तरह जगज्जाल से वे भी निकल पड़ते हैं ।

२. दुर्बल मनुष्य इस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता ।

आदमी उसके ऊपर से नदी पार करते हैं। एवमस्तु-एवमस्तु, शिवोऽहम् शिवोऽहम्। रामदयाल बाबू के कथनानुसार सौ फोटोग्राफ भेज दूँगा। वे बेचना चाहते हैं। रुपया मुझे भेजने की आवश्यकता नहीं। उसे मठ को देने को कहो। यहाँ मेरे पास प्रचुर धन है, कोई कमी नहीं! .....वह यूरोप-यात्रा तथा पुस्तक-प्रकाशन के लिए है। यह पत्र प्रकाशित न करना।

आशीर्वादक
नरेन्द्र

पुनश्च—

मुझे मालूम होता है कि अब काम ठीक चलेगा। सफलता से ही सफलता मिलती है। शशि! दूसरों में जागृति उत्पन्न करो, यही तुम्हारा काम है। क. विषय-बुद्धि में बड़ा पक्का है। काली को प्रबन्धक बनाओ। माता जी[1] के लिए एक निवास-स्थान का प्रबन्ध कर सकने पर मैं बहुत कुछ निश्चित हो जाऊँगा। समझे? दो-तीन हजार रुपए तक खरीदने लायक कोई जमीन देखो। जमीन थोड़ी बड़ी होनी चाहिए। पहले कम से कम मिट्टी का मकान तैयार करो, बाद में वहाँ एक भवन निर्मित हो जायगा। शीघ्र ही जमीन ढूँढ़ो। मुझे पत्र लिखना। कालीकृष्ण बाबू से पूछना कि मैं किस तरह रकम भेजूँ—कुक कम्पनी के द्वारा, किस तरह? यथाशीघ्र यह काम करो। यह होने पर मैं बहुत कुछ निश्चिन्त हो जाऊँगा। जमीन बड़ी होनी चाहिए, बाकी

१. श्री रामकृष्णदेव की लीलासहधर्मिणी परमाराध्या श्री माँ सारदा देवी।

सब बाद में देखा जायगा । हम लोगों के लिए कोई फिक्र नहीं, धीरे-धीरे सब ठीक हो जायगा । कलकत्ते के जितने समीप होगी, उतना ही अच्छा । एक बार निवास-स्थान ठीक हो जाने पर माताजी को केन्द्र बनाकर गौरी माँ, गोलाप माँ को भी कार्य की धूम मचा देनी होगी।

यह खुशी की बात है कि मद्रास में खूब तहलका मचा हुआ है ।

सुना था, तुम लोग एक मासिक पत्रिका निकालनी चाहते हो, उसकी क्या खबर है ? सबके साथ मिलना होगा, किसी के पीछे पड़ने से काम नहीं होगा। All the powers of good against all the powers of evil. (अशुभ शक्तियों के विरुद्ध शुभ शक्तियों का प्रयोग करना होगा)—असल बात यही है।

विजय बाबू का यथासंभव आदर-यत्न करना। Do not insist upon everybody's believing in your Guru. हमारे गुरु पर जबरदस्ती विश्वास करने के लिए लोगों से मत कहना । गोलाप माँ को मैं अलग से एक चिट्ठी लिख रहा हूँ, उसे पहुँचा देना । अभी इतना समझ लो—शशि को घर छोड़कर बाहर नहीं जाना है । काली को प्रबन्ध-कार्य देखना है और पत्र-व्यवहार करना है। सारदा, शरत् या काली, इनमें से एक न एक मठ से सहानुभूति रखने वालों का मठसे सम्पर्क स्थापित करा दें । काली, तुम लोगों को एक मासिक पत्रिका का सम्पादन करना होगा । उसमें आधी बंगला रहेगी, आधी हिन्दी और हो सके तो, एक अंग्रेजी में भी । ग्राहकों को इकट्ठा करने में कितना दिन लगता है ? जो मठ से बाहर हैं, उन्हें

पत्रिका का ग्राहक बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। गुप्त से हिन्दी भाग सँभालने को कहो, नहीं तो हिन्दी में लिखनेवाले बहुत लोग मिल जायँगे। केवल घूमते रहने से क्या होगा ? जहाँ भी जाओ, वहीं तुम्हें एक स्थायी प्रचार-केन्द्र खोलना होगा। तभी व्यक्तियों में परिवर्तन आयेगा। मैं एक पुस्तक लिख रहा हूँ। इसके समाप्त होते ही बस, एक ही दौड़ में घर आ जाऊँगा। अब मैं बहुत नर्वस हो गया हूँ। कुछ दिन शान्ति से बैठने की जरूरत है। मद्रासवालों से हमेशा पत्र-व्यवहार करते रहना। जगह जगह संस्कृत पाठशालाएँ खोलने का प्रयत्न करना। शेष भगवान् के ऊपर है। सदा याद रखो कि श्री रामकृष्ण संसार के कल्याण के लिए आये थे——नाम या यश के लिए नहीं। वे जो कुछ सिखाने आये थे, केवल उसीका प्रसार करो। उनके नाम की चिन्ता न करो——वह अपने आप ही होगा। 'हमारे गुरुदेव को मानना ही पड़ेगा,' इस पर जोर देते ही दलबन्दी पैदा होगी और सब सत्यानाश हो जायगा, इसलिए सावधान! सभी से मधुर भाषण करना, गुस्सा करने से ही सब काम बिगड़ता है। जिसका जो जी चाहे, कहे, अपने विश्वास में दृढ़ रहो——दुनिया तुम्हारे पैरों तले आ जायगी, चिन्ता मत करो। लोग कहते हैं——"इस पर विश्वास करो, उस पर विश्वास करो", मैं कहता हूँ——"पहले अपने आप पर विश्वास करो।" यही सही रास्ता है। Have faith in yourself, all power is in you--be conscious and bring it out· (अपने पर विश्वास करो——सब शक्ति तुममें है——इसे जान लो और उसे विकसित करो।) कहो, "हम सब कुछ कर सकते हैं।" 'नहीं नहीं कहने से

साँप का विष भी नहीं हो जाता है।' खबरदार, No 'नहीं नहीं', कहो, 'हाँ हाँ,' 'सोऽहम् सोऽहम् ।'

**किन्नाम रोदिषि सखे त्वयि सर्वशक्तिः**
**आमन्त्रयस्व भगवन् भगदं स्वरूपम् ।**
**त्रैलोक्यमेतदाखिलं तव पादमूले**
**आत्मैव हि प्रभवते न जड़: कदाचित् ।।**[1]

अप्रतिहत शक्ति के साथ कार्य का आरम्भ कर दो। भय क्या है? किसकी शक्ति है, जो बाधा डाले? **कुर्मस्तारकचर्वणम् त्रिभुवनमुत्पाटयामो बलात् । किं भो न विजानास्यमान्--रामकृष्णदासा वयम् ।**[2] भय? किसका भय किन्हें भय?

**क्षीणा स्म दीनाः सकरुणा जल्पन्ति मूढ़ा जनाः**
**नास्तिक्यन्त्विदन्तु अहह देहात्मवादातुराः ।**
**प्राप्ताः स्म वीरा गतभया अभयं प्रतिष्ठां यदा ।**
**आस्तिक्यन्त्विदन्तु चिनुमः रामकृष्णदासा वयम् ।**
**पीत्वा पीत्वा परमपीयूषं वीतसंसाररागाः ।**
**हित्वा हित्वा सकलकलहप्रापिणीं स्वार्थसिद्धिम् ।।**
**ध्यात्वा ध्यात्वा श्रीगुरुचरणं सर्वकल्याणरूपं ।**

---

१. हे सखे, तुम क्यों रो रहे हो? सब शक्ति तो तुम्हीं में है। हे भगवन्, अपना ऐश्वर्यमय स्वरूप विकसित करो। ये तीनों लोक तुम्हारे पैरों के नीचे हैं। जड़ की कोई शक्ति नहीं—प्रबल शक्ति आत्मा की ही है।

२. हम तारों को अपने दाँतों से पीस सकते हैं, तीनों लोकों को बलपूर्वक उखाड़ सकते हैं। हमें नहीं जानते? हम श्री रामकृष्ण के दास हैं।

नत्वा नत्वा सकलभुवनं पातुमामन्त्रयामः ॥
प्राप्तं यद्वै त्वनादिनिधनं वेदोदधिं मथित्वा ।
दत्तं यस्य प्रकरणे हरिहरब्रह्मादिदेवैर्बलम् ॥
पूर्णं यत्तु प्राणसारैर्भौमनारायणानां।
रामकृष्णस्तनुं धत्ते तत्पूर्णपात्रमिदं भोः ॥[3]

अंग्रेजी पढ़े-लिखे युवकों के साथ हमें कार्य करना होगा । **त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः**—'एकमात्र त्याग के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति होती है ।' त्याग, त्याग—इसीका अच्छी तरह प्रचार करना होगा । त्यागी हुए बिना तेजस्विता नहीं आने की । कार्य आरम्भ कर दो । यदि तुम एक बार दृढ़ता से कार्यारम्भ कर दो, तो मैं कुछ विश्राम ले सकूँगा । . . .आज मद्रास से अनेक समाचार

---

३. जो लोग देह को आत्मा मानते हैं, वे ही करुण कण्ठ से कहते हैं—हम क्षीण हैं, हम दीन हैं; यह नास्तिकता है । हम लोग जब अभयपद पर स्थिर हैं, तो हम भयरहित वीर क्यों न हो, यही आस्तिकता है । हम रामकृष्ण के दास हैं ।

संसार में आसक्ति से रहित होकर, सब कलहों की जड़ स्वार्थ का त्याग करके, परम अमृत का पान करते हुए, सर्वकल्याणस्वरूप श्री गुरु के चरणों का ध्यान कर, समस्त संसार को नतमस्तक होकर उस अमृत का पान करने के लिए बुला रहे हैं ।

अनादि अनन्त वेदरूप समुद्र का मन्थन करके जो कुछ मिला है, ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि देवताओं ने जिसमें अपनी शक्ति का नियोग किया है, जिसे पार्थिव नारायण कहना चाहिए अर्थात् जो भगवदवतारों के प्राणों के सार पदार्थ द्वारा पूर्ण है, श्री रामकृष्ण ने अमृत के पूर्ण पात्रस्वरूप उसी देह को धारण किया है ।

प्राप्त हुए हैं। मद्रासवाले तहलका मचा रहे हैं। मद्रास में हुई सभा का समाचार 'इंडियन मिरर' में छपवा दो।...

बाबूराम और योगेन इतना कष्ट क्यों भोग रहे हैं? शायद दीन-हीन भाव की ज्वाला से। बीमारी-फीमारी सब झाड़ फेंकने को कहो——घण्टे भर के भीतर सब बीमारी हट जायगी। आत्मा को भी कभी बीमारी जकड़ती है? कहो कि घण्टा भर बैठकर सोचे, मैं आत्मा हूँ——फिर मुझे कैसा रोग? सब दूर हो जायगा। तुम सब सोचो, हम अनन्त बलशाली आत्मा हैं, फिर देखो, कैसा बल मिलता है। कैसा दीन भाव? मैं ब्रह्ममयी का पुत्र हूँ। कैसा रोग, कैसा भय, कैसा अभाव? दीनहीन भाव फूँक मारकर विदा कर दो। सब अच्छा हो जायगा। No negative, all positive, affirmative. I am, God is and everything is in me. I will manifest health, purity, knowledge, whatever I want. ('नास्ति' का भाव न रहे, सबमें 'अस्ति' का भाव चाहिए। कहो, मैं हूँ, ईश्वर है, और सब कुछ मुझमें है। मेरे लिए जो कुछ चाहिए——स्वास्थ्य, पवित्रता, ज्ञान——सब मैं अवश्य अपने भीतर से अभिव्यक्त करूँगा। अरे, ये विदेशी मेरी बातें समझने लगे और तुम लोग बैठे बैठे दीनता-हीनता की बीमारी से कराहते हो? किसकी बीमारी? कैसी बीमारी? झाड़ फेंको। दीनता-हीनता की ऐसी-तैसी! हमें यह नहीं चाहिए। **वीर्यमसि वीर्यं, बलमसि बलम्, ओजोऽसि ओजो, सहोऽसि सहो मयि धेहि।** 'तुम वीर्यस्वरूप हो, मुझे वीर्य दो, तुम बलस्वरूप हो मुझे बल दो; तुम ओजस्वरूप हो, मुझे ओज दो; तुम सहिष्णुतास्वरूप हो, मुझे सहिष्णुता दो।'

प्रतिदिन पूजा के समय यह जो आसन-प्रतिष्ठा है—**आत्मानं अच्छिद्रं भावयेत्**—'आत्मा को अच्छिद्र सोचना चाहिए'—इसका क्या अर्थ है ? .... कहो—हमारे भीतर सब कुछ है—इच्छा होने ही से प्रकाशित होगा। तुम अपने मन ही मन कहो—बाबूराम, योगेन आत्मा हैं—वे पूर्ण हैं, उन्हें फिर रोग कैसा ? घंटे भर के लिए दो-चार दिन तक कहो तो सही, सब रोग शोक छूट जायेंगे। किमधिक-मिति।

साशीर्वाद

**नरेन्द्र**

卐

# निष्काम कर्म की महत्ता

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों के अनुरोध पर उन्हें 'विवेक ज्योति' में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर से साभार गृहीत है। (स.)

गीता में निष्काम कर्म की बड़ी महिमा बताई गयी है। निष्काम कर्म का महत्त्व केवल हमारे आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से ही नहीं है, प्रत्युत हमारे भौतिक जीवन में भी इसकी महत्ता निर्विवाद है। भौतिक जीवन में निष्कामता हमारे कर्मों को पूर्णता प्रदान करती है और उन्हें अधिक से अधिक फलप्रसू बनाती है। इसका आध्यात्मिक पक्ष कर्म में निहित स्वाभाविक विष से हमारी रक्षा करता है और हमें असफलता के समय टूटने से बचाता है। इसके साथ ही वह सफलता के उन्माद का मोचन भी करता है। ये दोनों पक्ष एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों पक्षों को मिलाकर ही निष्काम कर्म के सिद्धान्त का सम्पूर्ण अर्थ प्राप्त होता है।

निष्काम कर्म का भौतिक पक्ष यह कहता है कि कर्म के फल की अतिरिक्त चाह न रखो। कर्मफल की चाह तो स्वाभाविक है। जब मनुष्य कोई कर्म करता है तो उसके फल की कामना से प्रेरित होकर ही करता है। पर गीता कहती है कि चाह की तीव्रता इतनी न कर लो

कि जिससे कर्म करने की शक्ति पर बाधा पड़े। उदाहरणार्थ, एक विद्यार्थी परीक्षा की तैयारी करता है। ज्योंही पुस्तक खोलकर वह पढ़ने बैठता है, उसकी आँखों के सामने परीक्षा-फल नाचने लगता है। सोचता है, यदि अमुक श्रेणी में उत्तीर्ण होऊँगा तो विदेश पढ़ने के लिए जाऊँगा। वह कल्पना के महल खड़ा करता है और इस व्यर्थ की फलचिन्ता में उसका अधिकांश समय नष्ट हो जाता है। यह समय अगर वह पढ़ाई में लगा देता, तो उसका कर्म अधिक सक्षम और पूर्ण बनता और उस कर्म का फल भी उसके लिए अधिक वांछित होता। यही बात प्रत्येक क्षेत्र में लागू होती है। हम कर्म करने में अधिक ध्यान न देकर उससे प्राप्त होनेवाले फल के चिन्तन में व्यर्थ समय गँवाया करते हैं। अतः निष्काम कर्मरूपी सिद्धान्त का भौतिक पक्ष कहता है कि पूरी शक्ति के साथ कर्म करते चलो। उसका उचित फल तो कर्म के न्याय के अनुसार अनिवार्य रूप से प्राप्त होगा ही। व्यर्थ के फल-चिन्तन में समय न गँवाओ। फल के बारे में सोचते रहने से मन भटक जाता है, हम अपना पूरा मन कार्य में नहीं लगा पाते। इसलिए वह फल की चाह करने से हमें रोकता है।

निष्काम कर्म का आध्यात्मिक पक्ष यह कहता है कि ईश्वर-समर्पित बुद्धि से जीवन के सब कार्य करो, अर्थात् कर्म तो करो और पूरी शक्ति के साथ करो, पर उसका फल ईश्वर पर छोड़ दो। यह दृष्टिकोण हमारी रक्षा करता है। मान लीजिए, किसी ने पूरे मन-प्राण के साथ एक कर्म किया और अन्त में इतने प्रयत्न के बावजूद उसे असफलता हाथ लगी। जो व्यक्ति निष्काम

कर्म का विश्वासी नहीं हैं उसकी क्या दशा होगी ? वह टूट जायेगा, बिखर जायेगा। वह समाज को दोष देगा। वह हताश हो जायेगा और सम्भव है जीवन से भी निराश हो जाए। भौतिकवादी लोगों के जीवन में हम असफलताजन्य निराशा प्रायः देखा करते हैं। एक बार असफल होने पर वे पुनः खड़े होने में समर्थ नहीं हो पाते। अब उनको देखें जो निष्काम कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं और अपने कर्मों के फल ईश्वर की इच्छा पर छोड़ देते हैं। यदि ऐसा व्यक्ति असफल होता है तो वह सोचता है कि ईश्वरेच्छा से ऐसा हुआ। वह सन्तोष कर लेता है कि इस असफलता से ईश्वर उसका मंगल ही करेंगे। और इस प्रकार अपने आपको टूटने से बचाकर वह ईश्वर पर अधिक विश्वास के साथ, दुगने उत्साह से अपने कार्य में लग जाता है। जब उसे सफलता मिलती है, तो उसे भी वह ईश्वर की कृपा समझता है और अपने आपको एक निमित्त मात्र मानता है। दोनों ही स्थितियों में कर्म का लेप उस पर नहीं लग पाता। उसका समर्पणभाव कर्म के विष से उसकी रक्षा करता है।

यहाँ कुछ लोग यह आपत्ति उठा सकते हैं कि यह तो पलायनवाद हुआ। ईश्वर को फल समर्पित करना तो मात्र एक कल्पना है। इसका उत्तर यह है कि आखिर जीवन भी तो एक कल्पना है। यदि कोई कल्पना हमें टूटने से बचाती है तो उसका सहारा हम क्यों न लें। अक्षांश और देशांश की रेखाएँ कोई प्राकृतिक रेखाएँ नहीं हैं, फिर भी उनके सहारे हम हवाई जहाज और पानी के जहाज से यात्रा करके गन्तव्य पर पहुँच जाते हैं। फिर, ईश्वर

तो कल्पना की उपज है नहीं, वह जीवन का शाश्वत सत्य है, अखिल शक्ति का स्रोत है। निष्काम कर्म जहाँ हमारे भौतिक जीवन को समृद्ध करता है वहाँ हमें आध्यात्मिक रूप से भी उन्नत बनाता है।

卐

# श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

## (उनतीसवाँ प्रवचन)

*स्वामी भूतेशानन्द*

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बंगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्ण कथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। –स.)

### संन्यास : शास्त्रविधि और अधिकारवाद

परिच्छेद की सूचना में मास्टर महाशय ने थोड़े शब्दों में हाजरा के साथ ठाकुर का जो सम्बन्ध है, उसे सुन्दर ढंग से कह दिया है। ठाकुर ने हाजरा से घर जाकर माँ को देख आने के लिए कहा था। उन्होंने कहा है–"माँ, स्त्री, सन्तान आदि के प्रति तुम्हारा जो कर्तव्य है, उसे करना होगा तुम्हारे लड़के-बच्चों का पालन-पोषण क्या पड़ोसी करेंगे?" हाजरा घर जाना नहीं चाहते। वे महिमाचरण से कहते हैं कि ठाकुर उन्हें जबरदस्ती घर भेजना चाहते हैं, इसलिए महिमाचरण हाजरा की ओर से ठाकुर के पास वकालत करते हैं। इसके उत्तर में ठाकुर कहते हैं,–– "माँ को कष्ट देकर क्या कभी ईश्वर को पुकारना सम्भव हो सकता है?" ठाकुर की यह बात कुछ विरोधाभाषी है। प्रश्न उठता है कि क्या साधुओं की माँ नहीं होती?

क्या उनको दुःख नहीं होता होगा। यहाँ पर ठाकुर का अभिप्राय यह है कि ईश्वर के साथ किसी की तुलना नहीं हो सकती। भगवान् के पथ पर किसी बाधा को स्वीकार करने से नहीं चलेगा। इस विषय में कोई समझौता नहीं है, क्योंकि वहाँ वैराग्य तीव्र है। वह यदि न रहे, तो माता-पिता-आत्मीय-स्वजन, देश-समाज आदि के बारे में सोच-विचार और हिसाब-किताब आ पड़ता है। भगवान् के लिए व्याकुल होने पर, ठाकुर की भाषा में––"उनके लिए पागल होने पर, उनका कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। वैराग्य प्रबल न होने तक ही कर्तव्य का बन्धन है। व्याकुलता आने पर वह सभी बन्धनों से मुक्त हो भगवान् की ओर बढ़ जाता है। जब किसी के मन में संसार-त्याग का प्रश्न उठे, तब उसे अवश्य ही विचार करना होगा कि क्या वह झमेले से बचने के लिए संसार का त्याग करना चाहता है, या ईश्वर को पाने की व्याकुलता के कारण? हाजरा जैसे अनेक लोग संसार के झमेले से परेशान हैं। पर संसार अपनी वसूली क्यों छोड़ेगा? वह तो ब्याज सहित मूल-धन वसूल कर लेगा।

ठाकुर ने जो यह कहा कि 'माँ की याद आते ही फिर मैं वृन्दावन में नहीं रुक सका? यह एक दूसरी बात है। उन्हें तो संसार के सामने उदाहरण रखना है न। इसलिए उन्हें सभी प्रकार के उदाहरण दिखाना पड़ा। यहाँ पर उन्होंने एक बात कही, फिर अन्य स्थान पर कहते हैं––भगवान् के लिए जब कोई व्याकुल होता है, तब उसका और कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। गीता में कहा है––

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥३/१७

—'जो आत्मरति, आत्मा में ही तृप्त तथा संतुष्ट है, वे सब कर्तव्य-बन्धन से मुक्त है।' अतः शास्त्र उनके लिए कोई कर्तव्य का बन्धन नहीं रखता, अन्यथा संन्यास शास्त्रसम्मत नहीं होता। इस सम्बन्ध में मीमांसकों और ज्ञानियों के बीच चिरन्तन विरोध चला आ रहा है। मीमांसकों के मतानुसार संन्यास शास्त्रनिषिद्ध है। वहाँ कहा गया है——जब तक जीवित रहोगे, तब तक अग्नि-होत्र करना होगा। फिर भी उनके मत में अन्धे, बधिर, पंगु आदि, जिनमें कार्य-क्षमता नहीं है, उन्हें छोड़ा जा सकता है, उनके लिए विधान करने से क्या लाभ? जो कर सकते हैं, उनके लिए कहा जाता है, 'करो'। जो नहीं कर सकते, उनसे 'करो' कहने में तो कोई सार्थकता नहीं है। अतः जब तक कार्य-क्षमता है, तब तक शास्त्रीय कर्म करते रहना होगा, संन्यास लेने से नहीं चलेगा। और जिनके लिए संन्यास लेने का विधान है, समझना होगा कि उनमें कर्म करने का सामर्थ्य नहीं है।

ठीक इससे विपरीत बात ज्ञानी कहते हैं। वे कहते हैं——जब तक कामना है, तब तक कर्म का विधान है। विवाह होने के बाद सन्तान होने पर वही सन्तान पिता का असम्पूर्ण कर्तव्य सम्पन्न करेगा, ये सारी बातें तभी तक हैं, जब तक वासना है। जो वासनामुक्त हो गये हैं या होने की चेष्टा कर रहे हैं, वे कहेंगे, यह सब करने से हमें क्या लाभ होगा? प्रजा या सन्तान इहलोक के लिए है; जिन्हें इहलोक चाहिए न परलोक, उनके लिए सन्तान या याग-यज्ञ की क्या आवश्यकता है? उनके

लिए संन्यास का ही विधान है। जब तक वासना है, तब तक कर्म करना होगा। जब विषयों से वैराग्य हो जायगा तभी त्याग होगा। तब कौन है, कौन नहीं, किसके मन को दु:ख होगा, किसे आघात लगेगा, कितनी हानि होगी, इन सबका हिसाब नहीं रह जायगा। ठाकुर कहते हैं, कानून है अवश्य, पर पागल हो जाने पर कानून उसके ऊपर लागू नहीं होता। अत: भगवान् के लिए पागल होने पर उसका कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। 'तस्य कार्यं न विद्यते'। हाजरा के सम्बन्ध में जहाँ तक पता चला है, उसमें तीव्र वैराग्य नहीं था। उसमें दुनियादारी थी, इसीलिए ठाकुर कहते हैं कि उसका कर्तव्य बाकी है। कर्तव्यों को छोड़कर Escapism (पलायनीवृत्ति) नहीं चलेगी। चाहे जितना शारीरिक या अन्य कष्ट क्यों न हो, कर्तव्य निर्वाह करना ही होगा। जिनका जीवन तीव्र वैराग्यमय है, जो वासना त्याग करने की चेष्टा कर रहे हैं, या वासनारहित हो गये हैं, उनके लिए यह विधान है कि वह संसार का त्याग कर दें। इस सम्बन्ध में शास्त्र ने विधान दिया है--"ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वा ईतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा (वनाद्वा). . . . यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् (जाबाल उप.) ब्रह्मचर्य की परिसमाप्ति के बाद गृही होना चाहिए, गार्हस्थ्य के बाद वानप्रस्थ, वानप्रस्थ के बाद संन्यास होना चाहिए। वैसा न होने पर ब्रह्मचर्य के बाद अथवा गृह के बाद या वन के बाद, अर्थात् जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन संन्यास लेना चाहिए। फिर भी जिनके

मन में संन्यास लेने की तैयारी नहीं है, तीव्र वैराग्य नहीं आया है, उसे उसके लिए तैयारी करते हुए क्रमशः संन्यास के पथ पर आगे बढ़ना चाहिए।

**"माता-पिता का कर्तव्य और शास्त्र दृष्टान्त"**

ब्रह्मचर्य सभी आश्रमों की बुनियाद है। इसलिए प्रारम्भ में सभी के लिए ब्रह्मचर्य का विधान है। ब्रह्मचर्य के बाद वैराग्य की तीव्रता के आधार पर व्यक्ति निर्णय करे कि वह संसार में रहे या संसार त्यागकर चला जाय। वैराग्य तीव्र न होने पर उसे क्रममुक्ति के मार्ग से जाना होगा। बात इस प्रकार है—ब्रह्मचर्य के बाद मन की तैयारी हुई, संयम के अभ्यास से बुद्धि परि-मार्जित होकर उसमें विचारशक्ति का विकास हुआ। इसके बाद वह स्वयं अपने जीवन का रास्ता चुन ले। माता-पिता या अन्य कोई उसकी ओर से चुनाव नहीं कर सकता। माता-पिता का कर्तव्य, सन्तान को शिक्षा देकर समाप्त हो जाता है। माता-पिता सोचते हैं, बच्चों को पाल-पोस कर बड़ा किया, अब क्या हमारे प्रति इनका कोई कर्तव्य नहीं है? अनन्त कर्तव्य है. ठीक है, लेकिन जब वह एक महान लक्ष्य को स्थिर कर तथा संन्यास के रास्ते में जाना चाहता है, तब शास्त्र उसे बाधा न देकर उत्साहित करता है। पर माता-पिता बाधा उत्पन्न करते हैं—यह सोचकर कि उनका क्या होगा। किन्तु वे थोड़ा भी यह नहीं सोचते कि उनके मार्ग में बाधा उत्पन्न करना सन्तान के प्रति उनकी यथार्थ कल्याण कामना करना नहीं हुआ। वे जो करते हैं, वह स्वार्थपरता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उस स्वार्थ को मानो सोने की परत मढ़कर कहा जाता

है—हमारे प्रति क्या उनका कोई कर्तव्य नहीं है? वैसे तो उनका कर्तव्य है, लेकिन सन्तान का पालन करना क्या अर्थ विनियोग (Investment) करने के समान है, जो प्रतिदान में माता-पिता का पालन करेगा? ऐसा होने पर मातृत्व-पितृत्व कहाँ रह जायगा? यह तो व्यवसाय हो गया। इतना मूलधन लगाकर दुकान खोला, यह सोचकर कि इतना लाभ होगा। यह व्यवसाय है, इसमें महत्त्व का कुछ भी नहीं। माता-पिता का कर्तव्य और भी उच्चतर वस्तु है। शिशु जन्म लेने के बाद बड़ा होकर माता-पिता की सेवा करेगा, इस भाव से माता-पिता उसका पालन नहीं करते। शिशु की असहायता के कारण तथा उसके प्रति स्नेहवश वे उसका पालन करते हैं और उसमें आनन्द भी पाते हैं। लेकिन बाद में सन्तान के शिक्षालाभ कर बड़े होने पर वे चाहते हैं कि सन्तान मूलधन को ब्याज सहित वापस करे। व्यावहारिक दृष्टि से तो यही संगत प्रतीत होता है, लेकिन सन्तान यदि उच्चतर लक्ष्य को सामने रखकर आगे बढ़ रहा हो, तब क्या उसको उत्साहित करना उचित नहीं है? दृष्टान्त-स्वरूप कह सकते हैं कि देश की रक्षा के लिए सैनिकों की आवश्यकता होती है, तो वे सैनिक दूसरों के लड़के हों, अपने नहीं। विजयी सैनिकों की हम जयजयकार तो करते हैं, लेकिन अपने लड़के को सेना में नहीं दे सकते। वैसे ही हम संन्यासी को देखकर कहते हैं, कितना उच्च जीवन है; परार्थ उत्सर्गीकृत, सुन्दर आदर्श है। लेकिन इस आदर्श का अनुसरण दूसरे लोग करें, अपना लड़का न करे। इसके भीतर कपटता है, जिसे ठाकुर 'पटवारी बुद्धि' कहते थे।

स्वामी विवेकानन्द ने मदालसा का दृष्टान्त दिया है। मदालसा सन्तान को जन्म से ही पालने में झुलाते हुए कहती थी, 'तत्वमसि निरंजनः'–तुम वही निरंजन, निष्पाप शुद्ध आत्मा हो। शैशवकाल से ही माँ से यह बात सुनकर उस बच्चे की बुद्धि का विकास हुआ और वह वैराग्य का अवलम्बन कर चला गया। इसी तरह एक के बाद एक सभी सन्तान वैराग्य का पथ ग्रहण कर चले गये। क्या इसमें माँ की भूल हुई ? ऐसा कोई माता-पिता नहीं, जो सन्तान का सुख नहीं चाहते, लेकिन यहाँ पर जरूरी नहीं कि उनके समान होने पर ही सन्तान सुखी होगी। सन्तान जिस प्रकार सुखी होगी, क्या हम उसे उसी प्रकार धैर्य-पूर्वक सुखी बनाने तथा उसके सुख के प्रति सहानुभूति-सम्पन्न हो पाते हैं ? सन्तान को छोड़ते हुए माता-पिता का दुखी होना स्वाभाविक है। माता-पिता अपनी ममत्व बुद्धि से स्वयं जिस प्रकार जीवन को उपभोग्य समझते हैं, वे चाहते हैं कि उनकी सन्तान भी उसी तरह जीवन का भोग करें और सुखी रहें। इसमें उनका कोई दोष नहीं है। उनके मन में वैराग्य नहीं है, इसलिए वे सन्तान के वैराग्य को प्रोत्साहित नहीं कर पाते। ठाकुर ने सभी तरह का उदाहरण रख दिया है। बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) को उन्होंने अपनी ओर खींच लिया, और कहने लगे 'एक को और खींच लूं क्या ?' फिर कहते हैं – एक को खींचा हूँ, इसे रहने दो।' हमारे पुण्य पवित्र भारत भूमि में इस प्रकार के दृष्टान्तों का अभाव नहीं है कि सन्तान के त्यागमय जीवन का अवलम्बन करने पर माता-पिता आनन्दित होकर उसे आशीर्वाद देते हैं।

अब पुनः संन्यास के प्रसंग में लौट चलें । यदि कोई संसार के झमेले से बचने के लिए संसार का त्याग करे तो वह साधु तो होगा ही नहीं, बल्कि समाज के लिए भी अनुपयुक्त होगा । मनुष्य कोई आसमान से उतरा हुआ तो है नहीं । उसे तो आत्मीय, परिजन, समाज और देश के भीतर रहना पड़ता है, जिनके प्रति बहुत ही स्वाभाविक कारणों से उसके कुछ कर्तव्य हैं । लेकिन जब उसका मन भगवान् के लिए व्याकुल होता है, तब ये सब कर्तव्य उसके मार्ग को अवरुद्ध नहीं कर सकते । लेकिन जो वैराग्य केवल सांसारिक अशान्ति से छुटकारा पाने के लिए है, वह तो कापुरुषता का नामान्तर मात्र है । शास्त्र में उसका समर्थन नहीं है । यहाँ तक कि कुरुक्षेत्र के युद्ध के प्रारम्भ में आत्मीय-स्वजन के प्रति अर्जुन की तथाकथित दया की निन्दा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, 'यह दया नहीं कापुरुषता है ।' पुनः भगवान् यह भी कहते हैं कि जो सम्पूर्ण रूप से आत्म तृप्त है, उसका कोई कर्तव्य नहीं है ।

**श्रीरामकृष्ण की विचारदृष्टि तथा पथनिर्देश**

नागमहाशय की संसार-त्याग की इच्छा में बाधा देते हुए ठाकुर बोले, "तुम संसार में रहो, तुम्हें देखकर लोग सीखेंगे कि संसार में किस तरह रहना चाहिए ।" उनमें कोई कर्तव्य-बन्धन नहीं था. यह तो मानो समाज को एक उच्च आदर्श का दृष्टान्त दिखाने के लिए उनका संसार में रहना हुआ । पाँच वर्ष के बालक नारद ने माँ के मृत्यु के बाद संसार का त्याग कर दिया । भगवान् ने उसे दर्शन देकर कहा—'तुम सर्वत्र भक्ति का प्रचार करते हुए फिरो।'

जगत में प्रवृत्ति और निवृत्ति, दो धाराएँ हैं। दोनों ही शास्त्रसम्मत और अवस्था-विशेष में प्रयोज्य हैं। अब यदि सभी के लिए संसार में रहना कर्तव्य हो तो वह नितान्त ही हास्यास्पद लगेगा। मानो विधाता ने विश्व-ब्रह्माण्ड को चलाने का दायित्व हमें ही दिया है। किसी ने हमें दायित्व दिया नहीं, हम स्वयं ही अपना कर्तव्य निश्चित कर लेते हैं कि हमें यह करना होगा, तथा हम उसे किये जाते हैं। जब तक मन में वासना रहती है, तब तक इस कर्तव्य का बोझ हम अपने कंधों पर ढोते हैं। वासना समाप्त हो जाने पर ये सब कर्तव्य एक क्षण में समाप्त हो जायगा।

हाजरा के प्रति ठाकुर के उपदेश को समझने के लिए हमें इसी दृष्टि से विचार करना होगा। हाजरा का चारित्रिक स्वरूप तथा वह आध्यात्मिक जीवन में किस स्तर पर है, यह सब देखकर ठाकुर ने उसके लिए यह विधान दिया। और नरेन्द्र आदि अपने त्यागी सन्तानों के लिए इसके विपरीत उपदेश देते हुए कहा था-"भगवान् के लिए सर्वस्व का त्याग करना होगा।" वे एक एक करके दृष्टान्त देते हुए कहते हैं– "भगवान् सबसे बड़े हैं, बाकी सब उनके बाद है। माता-पिता से भगवान् बड़े हैं।" फिर इधर हाजरा से कहते हैं, "माता-पिता को कष्ट देने से क्या धर्मसाधना होगी?" ठाकुर विचक्षण वैद्य हैं, अधिकारी-भेद से पथ्य निर्देश करते हैं। सबके लिए एक ही पथ्य नहीं है। जैसे यह कहना अन्याय है कि सबको संन्यासी हो जाना चाहिए, उसी तरह यह कहना भी गलत है कि सभी को संसारी होना चाहिए। माता-पिता प्राय: अपनी धारणा के अनुसार सन्तान को गढ़ना चाहते

हैं। यह ठीक नहीं है। सन्तान का अपना एक व्यक्तित्व होता है, उसी व्यक्तित्व के विकास के द्वारा वह पूर्णता प्राप्त करता है। इस ढंग से उसकी सहायता करना माता-पिता तथा शिक्षक का कर्त्तव्य है। अपने ढाँचे में उसे ढालने की चेष्टा करना उचित नहीं है। समाज की आवश्यकतानुसार उसे बड़ा होना होगा। वह आवश्यकता चाहे देश की रक्षा के लिए युद्ध करने में हो, अथवा शारीरिक श्रम करके देश की सेवा करने के लिए हो—अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार उन्हें कार्य करना होगा। अथवा हो सके तो त्याग के आदर्श पर प्रतिष्ठित होकर समाज में उज्ज्वल आदर्श स्थापित कर सन्तानों को आगे बढ़ाने में भी माता-पिता के कर्तव्य का पालन होगा। माता-पिता का कर्तव्य क्या है, और सन्तान का कर्तव्य क्या है—ठाकुर ने इन दोनों ही दृष्टिकोणों से इस विषय को देखा तथा उपदेश दिया है, जो इस वचनामृत में अनेक स्थानों पर दिखाई देता है।

## तीसवाँ प्रवचन

"दक्षिणेश्वर में संध्या समय श्रीरामकृष्ण टहल रहे हैं। शाम हो गई है। श्रीरामकृष्ण के कमरे में धूनी दिया गया। वे भगवान् की तस्वीरों को प्रणाम कर बीजमन्त्र का जप कर रहे हैं, हरिनाम गा रहे हैं। दक्षिणेश्वर में एक साथ तीनों मंदिरों में (काली मंदिर, विष्णु मंदिर और शिव मंदिर) आरती हो रही है। आनन्दमयी का नित्य उत्सव जीव को मानों स्मरण करा दे रहा है कि अरे, निरानन्द न हो...हमारी माँ है। आनन्द करो।. कमरे में श्रीरामकृष्ण हरिप्रेमानन्द में बैठे हैं।" मास्टर

महाशय का यह संध्याकाल का वर्णन बहुत सुन्दर चित्र के समान प्रस्फुटित हो रहा है।

ठाकुर के भक्त ईशान मुखोपाध्याय आये हैं। वे जप, तप, पुरश्चरण आदि करते हैं। ठाकुर उनसे कहते हैं—"तुम जप, तप, आह्निक, उपवास, पुरश्चरण, आदि सब कर्म करते हो, यह ठीक है। जिनका ईश्वर से आन्तरिक प्रेम होता है, उसके द्वारा वे सब कर्म करा लेते हैं। फल कामना न करके यह सब कर्म कर सकने पर निश्चित रूप से उनकी प्राप्ति होती है।"

ठाकुर की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है। पहले वे कहते हैं वे जो कराते हैं, वही करता हूँ—ऐसी समझ रखने में अभिमान नहीं होता: दूसरी बात; निष्काम कर्म करने से ईश्वर लाभ होता है। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्चं सिद्धि विन्दति मानवः'—वर्णाश्रम विहित, शास्त्र में कर्तव्य के रूप में निर्दिष्ट अपने कर्म के द्वारा भगवान् की आराधना कर मनुष्य सिद्धि लाभ करता है। अपना उद्देश्य सिद्ध होगा, शुभफल, स्वर्गादि प्राप्त करेंगे आदि सब कामना न रहने पर भगवान् मिलते हैं। वैधी भक्ति अच्छी है, वह भगवान् के पथ पर ले जाती है। लेकिन सकाम वैधी भक्ति करने से केवल काम्य वस्तु की प्राप्ति ही उसका फल होता है, और कामशून्य होकर उनकी आराधना करने पर वे स्वयं मिलते हैं। ईशान मुखो-पाध्याय पुरश्चरण करते हैं सकाम भाव से। इसके द्वारा आध्यात्मिक जीवन में कल्याण नहीं होगा। 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।" (गीता ६/२२) जो पाया उससे अधिक पाने लायक कुछ है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। भगवान् को पाना ही वह पाना है।

उन्हें पा लेने से सब कुछ मिल जाता है। मनुष्य चिर-तृप्त हो जाता है, मत्त हो जाता है, जड़वत् होकर चेष्टा रहित हो जाता है आत्माराम हो जाता है,—'मत्तो भवति, स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति'–अपने हृदय में समग्र आनन्द का स्रोत पा लेता है। यह अवस्था ही सिद्ध का सही लक्षण है।

उनकी अर्चना करके मनुष्य जो सिद्धि पाता है वह सांसारिक उन्नति की प्रगति नहीं है। भगवान् या नि:श्रेयस की प्राप्ति या जीवन की समस्त समस्याओं का चिरकालीन समाधान ही वह सिद्धि है। इसीलिए ठाकुर ने ईशान को निष्काम और अभिमानरहित होकर कर्म करने का निर्देश दिया; शास्त्र निर्दिष्ट कर्मों को करना ही वैधी भक्ति कहलाती है।

इसके बाद रागभक्ति की बात कहते हैं,—"वह अनुराग से होती है, ईश्वर से प्रेम करने से होती है—जैसे प्रह्लाद की भक्ति। वह भक्ति जब आती है, तब वैधी कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती।" रामप्रसाद के गाने में है—'काज की आमार कोशा कुशी दे तोर हासिर लोकाचार'–जिसका मन भगवान् के प्रति आसक्त हो गया है, उसके लिए फिर लोकाचार, वैधी भक्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती। वैधी भक्ति में भगवान् के प्रति संकोच का, भय का व्यवधान रहता है, पर अनुराग आने पर भगवान् भक्त का अपना हो जाता है। भक्ति शास्त्र में इस रागात्मिका भक्ति का वर्णन है—भागवत में वर्णित गोपी प्रेम में इसकी पराकाष्ठा है।

श्रीकृष्ण के विरह में गोपियाँ कातर हैं। उन्हें सान्त्वना देने के लिए भगवान् ने उद्धव को भेजा। वे

आकर गोपियों से बोले—भगवान् अन्तर्यामी हैं, वे तुम्हारे अन्तःकरण में हैं, ध्यान करके उन्हें देख पाओगी। इसके उत्तर में गोपियाँ बोलीं, जिस मन में उनका ध्यान करना है, वह मन ही तो हमने उन्हें दे रखा है, अब ध्यान किस मन से करें? उद्धव ज्ञानी हैं, भक्तों की रस उन्माद अवस्था से वे परिचित नहीं हैं। उन्हें यही शिक्षा देने के लिए भगवान् ने उनको गोपियों के पास भेजा। ठीक इसी प्रकार संकेत करते हुए ठाकुर ईशान से कहते हैं—वैधी भक्ति अच्छी है, यह सही है, लेकिन इससे भी बढ़ कर एक वस्तु है। यह वैधी भक्ति शास्त्रनिर्दिष्ट है, लेकिन आन्तरिक आकर्षण की भक्ति यह नहीं है। जब भगवान् के प्रति अत्यधिक अपनेपन का बोध होगा, तब उनके पास पहुँचने के लिए किसी विधि-बन्धन, नियम-शृंखला का सहारा नहीं लेना पड़ेगा।

**मीरा की सप्रेम सेवा**

इस प्रसंग में एक सुन्दर कहानी है। वृन्दावन के एक मन्दिर में मीराबाई भोग के लिए रसोई पकाती थीं। मधुर स्वर में भजन गाते हुए वे रसोई बनातीं। एक दिन मन्दिर के प्रधान पुरोहित ने देखा कि मीरा अपने वस्त्रों को बिना बदले, बिना स्नान किए ही रसोई बना रही हैं। इस प्रकार अशुचि की अवस्था में भोग की रसोई बनाने के लिए पुरोहित ने मीरा की भर्त्सना की। उन्होंने मीरा को यह भी बता दिया कि भगवान् यह अन्न ग्रहण नहीं करेंगे। दूसरे दिन मीरा ने स्नान कर, पवित्र हो खूब सतर्कता से भोग बनाया। शास्त्रीय नियम पालन करने में कोई भूल न हो जाय, इस बात से वह बड़ी संत्रस्त रही। तीन दिन बाद पुरोहित को स्वप्न में

भगवान् ने बताया कि वे तीन दिनों से भूखे हैं। पुरोहित ने सोचा, जरूर मीरा ने कुछ भूल की होगी, शास्त्रीय विधि का पालन नहीं किया गया होगा, शुचिता का ध्यान न रखा होगा। भगवान् बोले--वह सब समय संत्रस्त है कि कहीं कुछ अशुद्धि, अपवित्रता न हो जाय। उसका प्रेम तथा मधुर भाव अब मैं नहीं पा रहा हूँ, इसलिए यह भोग मुझे रुचिकर नहीं लग रहा है। तब पुरोहित ने मीरा से क्षमायाचना की तथा पहले की ही तरह प्रेमपूर्ण भाव से भोग तैयार करने के लिए अनुरोध किया।

इस कहानी का तात्पर्य यह है कि जब भगवान् की आराधना आन्तरिकता से की जाती है, तब अन्य किसी विधि-विधान की आवश्यकता नहीं रह जाती है। श्रीभगवान् के प्रगट हो जाने पर क्या यह कहूँगा कि जरा ठहरिए, पहले आसन शुद्धि कर लूँ? ठाकुर जगन्माता की पूजा करते समय कभी माँ के चरणों में फूल चढ़ाते, और फिर कभी अपने ही माथे पर। ठाकुर कहते हैं,--"माँ, ठहरो, अभी मत खाओ, पहले मंत्र कह लूँ।' ठाकुर की बात को समझना होगा। अभिमान-शून्य और निष्काम होकर उनकी पूजा कर पाना अच्छा है, लेकिन प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करना और भी अच्छा है। मन्त्र वहाँ पर गौण है, निष्प्रयोजन है। उनकी सेवा करने के निर्मल आनन्द में ही उनका आस्वादन मिलता है। फिर भी प्रवर्तक के लिए पहले वैधी भक्ति की आवश्यकता होती है; इसके फलस्वरूप धीरे-धीरे उसमें भगवान् के प्रति अनुराग का उदय होता है। इसलिए वैधी भक्ति उपायमात्र है, उद्देश्य है रागात्मिका भक्ति।

वैधी भक्ति की प्रयोजनीयता स्वीकार करके ही ठाकुर ने ईशान को उसकी त्रुटि समझा दी।

### अकबर और फकीर

भगवान् के समीप अपनी स्वाभाविक कामना आन्तरिकता के साथ कहने से वे सुनते हैं, लेकिन ठाकुर कहते हैं—'राजा के पास जाकर क्या लौकी, कुम्हड़ा माँगोगे ?' जो अतुल ऐश्वर्य दान कर सकते हैं, उनके पास सामान्य लौकी-कुम्हड़ा चाहना मूर्खता का परिचायक है। भगवान् वरदाधिराज हैं—वरदाताओं में राजा हैं. वे स्वयं अपने आपको भी दे सकते हैं। ऐसा दाता और कौन है. जो स्वयं अपने आपको भी दे दे। ठाकुर कहते हैं—'बाबू तक पहुँच होने पर छोटी-मोटी वस्तुओं के लिए उनके भृत्यों के सामने अपमानित नहीं होना पड़ेगा। अत: मालिक के साथ सम्बन्ध जोड़ना ही अच्छा है। ठाकुर इसी व्यावहारिक दृष्टि से विचार करके देखते हैं। एक कहानी है—एक बार सम्राट अकबर के नमाज पढ़ने के समय एक फकीर भिक्षा लेने आये। नमाज पूरा होने के बाद फकीर को चले जाते देख अकबर ने पूछा, 'आप वापस क्यों जा रहे हैं ? लौटकर फकीर ने उत्तर दिया कि वे सम्राट के पास भिक्षा लेने आये थे, लेकिन देखा कि सम्राट स्वयं अल्लाह से अनेक प्रकार की वस्तुओं की भिक्षा माँग रहे हैं। इसलिए वे यह सोचकर चले जा रहे हैं कि भिखारी से भिक्षा क्यों माँगें। अब वे अल्लाह से ही माँगेंगे।

### निष्काम कर्म और पूजा

हम सब देवताओं से नाना प्रकार की वस्तुओं की कामना करते हैं क्योंकि वे देवता होने के कारण हमसे

अधिक शक्तिशाली हैं। यह ठीक है, पर परमेश्वर के सामने वे भी प्रार्थी हैं। तो फिर इतने सब देवता किसलिए हैं? हम प्रत्येक देवता को अपनी बुद्धि के अनुसार छोटे-छोटे उद्देश्यों के सहायक के रूप में अथवा साक्षात् परमेश्वर के रूप में देख पाते हैं। देवता एक ही है—पार्थक्य केवल हमारी दृष्टि में है। काली पूजा के समय चौसठ योगिनी की पूजा सम्पन्न कर मूल देवता की पूजा करनी होती है। वैधी भक्ति में ऐसा ही होता है। याग यज्ञ करते समय असंख्य देवताओं की पूजा बड़ी सावधानी से करनी पड़ती है। नहीं तो फल-लाभ नहीं होगा। एक अशुद्ध उच्चारण के कारण न जाने कितनी विपत्तियों की सृष्टि होती है। एक बार इन्द्र के निधन के लिए अनुष्ठित एक यज्ञ में यह उच्चारण करना था—इन्द्र-शत्रु अर्थात् इन्द्र रूप शत्रु का विनाश हो। लेकिन अशुद्ध उच्चारण के परिणामस्वरूप उसका अर्थ होगया—इन्द्र जिसका शत्रु है अर्थात् वृत्रासुर का विनाश हो। उच्चारण में त्रुटि होने से शब्द का अर्थ भिन्न हो गया। लेकिन जो निष्काम भाव से पूजा करता है, भगवान् उसकी कोई त्रुटि नहीं पकड़ते। वह निर्भय होता है। भगवान् क्या हम लोगों का अमंगल करने के लिए बैठे हैं? भगवान् किसी का पाप या पुण्य ग्रहण नहीं करते। गीता में कहा है—

ना दत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥गीता ५/१५

—फिर भी अज्ञान के द्वारा मोहग्रस्त मनुष्य अपने संशयग्रस्त मन में कल्पना करता है कि भगवान् हमें तिरष्कृत अथवा पुरस्कृत करेंगे। भगवान् से भयभीत न

होकर उनसे प्रेम करना होगा। भागवत में एक श्लोक है—'भक्त्या संजातिया भक्त्या विभ्रत्युत्पुलकां तनुम्'— भक्ति के द्वारा उत्पन्न भक्ति से शरीर रोमांचित होता है। निष्कामभाव के अभिमानशून्य वैधी भक्ति से रागभक्ति उत्पन्न होती है, भगवान् के प्रति अनुराग होता है, जिसका बाह्य लक्षण है, अश्रु तथा पुलक आदि।

कर्म करते समय कुछ खराब काम भी हो जाते हैं। अतः उसका भयंकर परिणाम भी स्वीकार कर लेना होगा। यह मानी हुई बात है कि जैसे अग्नि को धुआँ आच्छन्न करके रखता है, उसी तरह मनुष्य का सारा कर्म दोषों से आछन्न है—''सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।' इसलिए इस दोष को दूर करने के लिए सकाम कर्म न कर निष्काम कर्म करना ही कल्याणकारी है। उससे अन्तःकरण शुद्ध होगा, तथा शुद्ध अंतःकरण में भगवान् के प्रति अनुराग की उत्पत्ति होगी। यहाँ दूकानदारी की मनोवृत्ति नहीं है कि इतनी वस्तु दी है, उसका इतना मूल्य दो। मनुष्य सकाम भाव से पूजा करके अन्त में कर्मफल भगवान् को अर्पण करने से लाभ यह होता है कि भगवान् उसी फल को अनन्त गुना करके लौटा देते हैं। किसान बीज बोने के समय मुट्ठी-मुट्ठी भर धान जमीन में डाल देता है, पर मन में आशा रखता है कि वह इससे अनन्त गुना वापस प्राप्त करेगा। ठीक इसी प्रकार मनुष्य मुँह से कहता है, मैंने तुम्हें दिया; पर मन में कहता है, तुम इसे अनन्त गुना करके लौटा दो।'

卐

# श्री चैतन्य महाप्रभु (८)

*स्वामी सारदेशानन्द*

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बंगला में लिखा उनका 'श्री श्री चैतन्य देव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, जिसका हिन्दी अनुवाद धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादक स्वामी विदेहात्मानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर के अन्तेवासी हैं। —स.)

बहुत से लोग संन्यासी का दर्शन करने तथा उनके उपदेश सुनने को आने लगे और नवद्वीप के अन्तरंग भक्तगण भी वहाँ आकर उनसे मिले। शान्तिपुर मानो नवद्वीप और अद्वैत का घर मानो श्रीवास का आँगन हो उठा। आचार्य के घर में नित्य महोत्सव चलने लगा। अन्तरंग भक्तगण चैतन्यदेव से अपने विरह का दुःख भूल गए और उनका सदा हास्यमय श्रीमुख देखकर उनके संन्यास ले लेने का खेद भी विस्मृत कर बैठे। "उनके केश न देखकर भक्तों को यदि दुःख होता, तो भी उनका सौंदर्य देखकर उन लोगों को असीम सुख का अनुभव होता।"

भक्तगण का मन भगवत्चर्चा, कीर्तन, नृत्यगीत, भावावेश और आनन्दोल्लास में डूबा रहा। पहले जो लोग उनके प्रति विद्वेष का भाव रखते थे, अब उन सबके भाव में भी परिवर्तन लक्षित हुआ। संसार की सार चीजें——पत्नी, धन, जन, मान, यश——इन सबको चैतन्यदेव द्वारा काकविष्ठा की नाई त्याग देने की बात सोचकर उन लोगों के मन में विस्मय का बोध हुआ, श्रद्धा एवं भक्ति का भी उदय हुआ। दुष्कर्म में रत रहने वाले अनेक लोग पश्चात्ताप करते करते शुद्ध हो गए और अब से वे चैतन्यदेव के अनुगत होकर धर्म के पथ पर चलने

लगे। संन्यासी सबके गुरु और पूज्य माने जाते हैं। पहले जो लोग धन, जन, विद्या, कुलगौरव आदि में उनके सम्मुख सिर झुकाने में संकोच करते थे, अब वे भी निःसंकोच संन्यासी का अभिवादन करके, उनसे उपदेश की याचना करने लगे। जगद्गुरु संन्यासी भी अब अपनी कृपादृष्टि से सबके चित्त में प्रसन्नता का संचार करते हुए उनके मन का संशय समूह एवं अज्ञान-अन्धकार दूर करने लगे।

इसी प्रकार कुछ दिन बीत जाने पर चैतन्यदेव ने आचार्य एवं भक्तों से कहा, "संन्यास लेने के बाद अपने जन्म स्थान में रहना संन्यासी का धर्म नहीं है।" उनका कथन सुनकर सबके मन में बड़ी चिन्ता हुई। चैतन्यदेव ने उत्तर-पश्चिम की ओर जाने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु नित्यानन्द, आचार्य तथा समस्त भक्तगण उनसे अनुनय-विनय करने लगे कि आप अन्यत्र कहीं न जाकर सदा सर्वदा यहीं पर निवास करें। उन लोगों का हार्दिक अनुरोध तथा चिरौरी-विनती की उपेक्षा कर पाने में असमर्थ होकर अन्त में उन्होंने कहा कि ठीक है, माँ जहाँ कहेंगी, मैं वहीं रहूँगा। इससे भक्तों के चित्त में बड़ी आशा बँधी। वे सभी एक साथ मिलकर शचीदेवी के पास गए और उन्हें सब कुछ बताते हुए बोले, "माताजी! अब आपही के आदेश पर सब निर्भर करता है। आपका आदेश हो जाय तो वे अन्यत्र कहीं न जाकर यहीं निवास करेंगे। ऐसा होने से आपको तथा हम सबको परम आनन्द होगा।"

समस्त व्यापार से अवगत हो जाने के बाद शचीदेवी ने गम्भीरता का सहारा लिया और पुत्र के संन्यास-धर्म

की रक्षा हेतु व्याकुल हृदय से धीरतापूर्वक वे भक्तों से कहने लगी, "वह यदि यहाँ रहे तो मुझे आनन्द होगा, परन्तु इस कारण यदि उसकी निन्दा हो तो मेरे मन को दुःख पहुँचेगा, अतः वह नीलाचल में जाकर रहे तो दोनों ही उद्देश्य सिद्ध हो जायेंगे। नीलाचल और नवद्वीप तो मानो दो कमरों के समान हैं। लोगों का आवागमन निरन्तर होता ही रहता है, अतः मुझे निरन्तर उसका समाचार मिलता रहेगा। तुम लोग भी जब चाहो वहाँ आना-जाना कर सकते हो और उसका भी गंगास्नान हेतु यहाँ कभी-कभार आगमन हो जाएगा। अपने सुख-दुख की मुझे परवाह नहीं, उसी के सुख को मैं अपना भी सुख मानती हूँ।" शचीदेवी की ये बातें सुनकर सबके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सभी ने 'धन्य-धन्य' कहते हुए उनकी चरणधूलि ली और सोचने लगे, "ऐसी माँ न होती तो भला ऐसा पुत्र क्यों कर जन्म लेता!" माँ का मत ज्ञात होने पर चैतन्यदेव को अतीव आनन्द हुआ और वे धरती पर लोटकर बारम्बार अपनी माता की चरण-वन्दना करते हुए उनका आशीष माँगने लगे। शचीदेवी की इच्छानुसार चैतन्यदेव और भी कुछ दिन अद्वैताचार्य के घर ठहरने को सहमत हुए और इस पर भक्तगणों का चित हर्ष से उत्फुल्ल हो उठा।

शान्तिपुर में, आचार्य के घर में आनन्द का स्रोत प्रवाहित हो रहा है, देश-देशान्तर से बहुत से लोग आकर चैतन्यदेव का दर्शन करते हैं और उनके उपदेश सुनकर अपने को कृतार्थ मानते हैं। अनेक लोग हरिनाम संकीर्तन का माहात्म्य समझकर और भक्तों के साथ चैतन्यदेव का प्रेम-भावावेश, अष्टसात्विक विकार व उनके भुवनमोहन

रूप का दर्शन कर, सदा-सर्वदा के लिए उनके चरणों में आत्मसमर्पण करने लगे। नदीया के सभी लोग आये और उन्होंने संन्यासी निमाई का दर्शन करके अपने नेत्रों को सार्थक किया। केवल एक जन ही नहीं आ सकीं और संन्यासी निमाई का दर्शन करने का सर्वोपरि अधिकार एवं आग्रह उन्हीं का था, क्योंकि संन्यासी उन्हीं के निकटतम थे—परमप्रिय थे। देवी विष्णुप्रिया अपने पतिदेव के संन्यास-धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करने को अनिच्छुक थीं, अतः वे शान्तिपुर जाकर अपने स्थूल नेत्रों से उनका दर्शन करने को अधीर नहीं हुईं, बल्कि वे उनके पहले के आदेश एवं इच्छानुसार अपना जीवन सर्वतोभावेन संयमित करने लगीं। उन्हें पता था कि उनका तपस्यामय अलौकिक जीवन अब से त्रितापदग्ध जीवों के लिए परम आश्रयस्वरूप होगा। पतिदेव के आदेशानुसार उन्होंने अपना शेष जीवन अपनी वृद्धा सास, गृह देवता रघुवीर, अतिथि-अभ्यागतों और भक्तों की अतीव निष्ठापूर्वक सेवा में लगा दिया तथा अवकाश के क्षण भगवत्-उपासना एवं जप-ध्यान में व्यतीत करने लगीं।

पति के गृहत्याग के पश्चात् विष्णुप्रिया देवी ने भी जगत् के समस्त भोग-सुखों का परित्याग कर दिया और घर में ही संन्यासिनी के समान तपस्यामय जीवन बिताने लगीं। वे लज्जामयी थीं, क्षमा एवं सहनशीलता की प्रतिमूर्ति थीं। कभी किसी पुरुष के साथ वार्तालाप करना तो दूर कोई उनका मुख तक न देख पाता था। वे सासजी के पीछे-पीछे, उनके आँचल में अपने को ढँककर और उन्हीं के चरणों में दृष्टि लगाकर गंगा स्नान को जाया करती थीं। भोजन पकाना आदि घर के समस्त कार्य अपने

हाथों से पूरा कर, सबका आहार हो जाने पर, बिल्कुल थोड़ा सा प्रसाद ग्रहण कर वे जीवनधारणा करती थीं। ईशान नाम के एक कायस्थ भक्त मिश्र-परिवार के अतीव अनुगत थे और काफी काल से उसी परिवार के अंग के रूप में रहते हुए समस्त कार्यों में यथासम्भव सहायता करते थे। निमाई के संन्यासी हो जाने के बाद से ईशान ही इस गृह के अभिभावक स्वरूप होकर सारी देखभाल करने लगे। ईशान ने प्राणपण से मिश्र-परिवार की सेवा करके अपना जीवन सफल बना लिया।

चैतन्यदेव ने शचीदेवी की इच्छानुसार कुछ दिन और अद्वैत के भवन में निवास करने के बाद, नीलाचल यात्रा के लिए सबसे बिदा माँगी। भक्तगण उन्हें किसी भी हालत में छोड़ने को तैयार न थे। अतः उन्होंने सबको समझाते हुए कहा—"आप सब अपने अपने घर जाकर सद्भावपूर्वक जीवन यापन करते हुए स्वधर्म का पालन करें। भगवान की उपासना और उनके नाम का जप एवं कीर्तन करना—यही मानव जीवन का कर्तव्य है। इस कर्तव्य का ठीक पालन करना ही मेरे प्रति यथार्थ प्रेम की अभिव्यक्ति है, इसी से मुझे आनन्द होगा।" माता के चरणों में बारम्बार प्रणाम करने के पश्चात् उन्होंने उनसे अनुमति एवं आशीर्वाद की याचना की और पालकी में बैठकर भक्तों के साथ उन्हें नवद्वीप भेज दिया। तदुपरान्त आचार्य तथा भक्तगण से बिदा लेकर वे नीलाचल की ओर चल पड़े। नित्यानन्द, मुकुन्द, जगदानन्द, दामोदर आदि कुछ अन्तरंग भक्तों ने किसी प्रकार भी उनका साथ नहीं छोड़ा, अतः वे लोग भी चैतन्यदेव के संगी हुए। इनमें नित्यानन्द अवधूत तथा

अन्य कई ब्रह्मचारी थे जो संन्यासी नहीं थे तथापि गृहस्थाश्रम से कोई सम्पर्क नहीं रखते थे, अतः उन लोगों के साथ हो लेने में आपत्ति का कोई कारण न था। भक्तों ने उन्हें अपने साथ ले जाने के लिए बहुत सी चीजें देने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु चूँकि संन्यासी के लिए संचय करना उचित नहीं, इस कारण यात्राकाल में चैतन्यदेव ने अपने संगियों को विशेष रूप से सावधान करते हुए साथ में कोई वस्तु लेने को मना कर दिया। उन लोगों को समझाते हुए वे बोले—"जिस दिन भाग्य में आहार लिखा होगा, उस दिन वह वन में भी निश्चित रूप से आ जायेगा; और प्रभु ने जिस दिन जिसके भाग्य में आहार नहीं लिखा है, तो वह चाहे राजपुत्र ही क्यों न हो, उस दिन उसे उपवासी ही रहना होगा।"

अद्वैताचार्य भक्तों के संग शान्तिपुर की अन्तिम सीमा तक उनके साथ साथ गये और नेत्रों से अविरल अश्रु प्रवाहित करते हुए अपने 'प्राणों के धन' को विदा किया। सौम्य शान्त प्रसन्न गम्भीर संन्यासी धीर पदविक्षेप के साथ आगे बढ़ते हुए क्रमशः आँखों से ओझल हो गए और तब ज्ञानी आचार्य अपने हृदय की शोकविह्वलता को संवरण करने में अपने को असमर्थ पाकर भूमि पर लोट गये। शान्तिपुर के आनन्द का हाट भंग हो गया।

नवीन संन्यासी भगवन्नाम का स्मरण करते हुए शान्तिपुर से निकलकर दक्षिण की ओर गंगा के किनारे से होकर अग्रसर हुए। भिक्षान्न से उदरपूर्ति करते हुए तथा देवालय, आश्रम, मण्डप अथवा वृक्ष के नीचे रात्रि-यापन करते हुए उन्हें अतीव आनन्द का बोध होता।

संसार-शृंखला से मुक्त स्वाधीन-पक्षी के समान उनकी अवस्था थी, भीतर का आनन्द मानो मुखमण्डल से होकर विकसित हो रहा था, देखते ही लोग ठगे से रह जाते थे। वे जिधर से भी निकलते, लोगों की भीड़ जमा हो जाती। चारों ओर से दौड़कर लोग इन अद्भुत संन्यासी के दर्शनार्थ आ पहुँचते। संन्यासी भी अपनी शुभदृष्टि फेरकर सबकी मंगलकामना करते और अपनी सुमधुर वाणी से मोहित करते हुए सबको सद्भावपूर्वक जीवनयापन, स्वधर्मपालन तथा भक्तिपूर्वक भगवन्नाम लेने का उपदेश देते। इसके अतिरिक्त वे जगह जगह नित्यानन्द तथा भक्तगणों को साथ लेकर हरिनाम-संकीर्तन करते। उनका वह मधुर कीर्तन और अद्भुत भावावेश देखकर लोग मुग्ध हो जाते, भक्तिमान हो जाते।

इसी प्रकार भगवद्भक्ति और हरिनाम का प्रचार करते हुए वे क्रमशः बंगदेश के अन्तिम छोर पर सागर-संगम के समीप स्थित छत्रभोग* आ पहुँचे। वहाँ के सुप्रसिद्ध 'अम्बुलिंग' महादेव का दर्शन करके वे भावाविष्ट हो गये और उन्होंने वहाँ शिवजी की पूजा स्तुति आदि की। यहीं पर गंगा विराट् आकार में प्रवाहित होते हुए सागर से जा मिली हैं और यहाँ की प्राकृतिक सुषमा अतुल्य है। उस स्थान के सौंदर्य और शिवजी की महिमा से आकृष्ट होकर चैतन्यदेव ने वहाँ पर विश्राम किया।

* छत्रभोग—डायमण्ड हार्बर की ओर जयनगर-मजिलपुर के निकटस्थ एक स्थान है। अब भी वहाँ पर अम्बुलिंग महादेव विराजमान हैं।

दैवयोग से उस अंचल के भूमि अधिकारी रामचन्द्र खाँ के साथ उनकी वहीं पर भेंट हो गयी। रामचन्द्र इन नवीन संन्यासी की तेजोमय अंगकान्ति एवं अपूर्व भक्तिभाव देखकर उनकी ओर आकृष्ट हुए और उन्हें प्रणाम कर उन्होंने अपना परिचय दिया, तदुपरान्त उनकी अनुमति लेकर उनके भिक्षा एवं निवास की सुन्दर व्यवस्था कर दी।

उन दिनों पुरी का मार्ग बड़ा ही कठिन था। बंगाल के अधिपति मुसलमान नवाब और उड़ीसा के अधीश्वर हिन्दू नरेश में युद्ध ठना ही रहता था। इस कारण सीमा के प्रदेश बड़े ही दुर्गम तथा जोखिम भरे थे। सीमारक्षक प्रहरीगण लोगों का तरह-तरह से उत्पीड़न करते रहते थे। इसके अतिरिक्त वन्य प्रदेशों में चोर डाकुओं का और नदी या समुद्र में जलदस्युओं का भय बना ही रहता था। फिर जगह जगह यात्रियों से सरकारी कर वसूलने के लिए चौकियाँ बनी हुई थीं। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही राज्यों की तरफ से साधु-फकीरों के लिए मुक्त आवा-गमन की अनुमति थी, तथापि चौकी अधिकारी साधुओं को छद्मवेशी होने का सन्देह कर उन्हें तंग करते थे। चैतन्य-देव के पुरी जाने की बात ज्ञात होने पर जमींदार रामचन्द्र बड़े चिन्तित हुए और उन्हें पथ में किसी प्रकार का कष्ट या असुविधा न हो इसकी सारी व्यवस्था कर दी। इसके साथ ही उन्होंने जल मार्ग से सीमा पार करने के लिए एक अच्छी नौका का भी बन्दोबस्त कर दिया। भक्तों के साथ भगवान का नाम लेते हुए चैतन्यदेव नाव में सवार हुए और बंगाल की खाड़ी का किनारा पकड़कर धीरे-धीरे अग्रसर होते हुए उड़ीसा राज्य में प्रवेश किया।

बालेश्वर के निकट 'प्रयाग घाट' नामक स्थान में पहुँचकर उन्होंने नौका छोड़ दी और वहाँ स्नान, दर्शन आदि करने के पश्चात् वे लोग पैदल ही चलने लगे। इस पूरे अंचल के सभी प्रहरी और चौकी अधिकारियों ने उनका दर्शन किया, अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनका स्वागत किया, उनके मुखारविन्द से भगवद्भक्ति के उपदेश सुने और उनके अबाध यात्रा की व्यवस्था कर दी। यहाँ तक कि चोर-डाकुओं ने भी उनके प्रति आकर्षण बोध किया और वे उनसे भक्तिपूर्ण आचरण करते रहे। वे भी सबके प्रति प्रसन्न होकर उन पर कृपादृष्टि डालते थे।

क्रमश: वे लोग रेमुना ग्राम आ पहुँचे, वहाँ 'क्षीरचोर गोपीनाथ' का दर्शन किया और स्तव, स्तुति. भजन, कीर्तन आदि करने लगे। पुजारीगण के अन्दर भी उनके प्रति श्रद्धा का उदय हुआ और रात का भोग हो जाने पर वे लोग बहुत सा खीर-प्रसाद लेकर उपस्थित हुए। चैतन्यदेव ने उनमें से थोड़ा सा ग्रहण करके बाकी लौटा दिया।

क्षीरचोर गोपीनाथ का दर्शन करने के बाद वे लोग आगे बढ़े और याजपुर जा पहुँचे। याजपुर अति प्रसिद्ध स्थान है। गया के समान ही यहाँ पर भी लोग पितरों की मुक्ति के लिए पिण्डदान किया करते हैं। बहुत से लोग वहाँ वैतरणी नदी में स्नान करने को जाया करते हैं। वहाँ की पीठाधीश्वरी विरजा देवी और त्रिलोचनेश्वर महादेव का सुविशाल मन्दिर सुन्दर कलात्मक खुदाई से परिपूर्ण था, दर्शनीय था। याजपुर में छोटे-बड़े और भी असंख्य मन्दिर थे। काला पहाड़ के आक्रमण के फलस्वरूप वे सब ध्वंश को प्राप्त हुए थे।

अब भी वे समस्त ध्वंशावशेष विद्यमान हैं। चैतन्यदेव के काल में याजपुर समृद्धिशाली था। उन्होंने वहाँ निवास किया और भगवती का दर्शन, पूजन आदि करके अतीव आनन्द का बोध किया। याजपुर से बिदा होकर, संगी-जनों के साथ वे उड़ीसा की राजधानी कटक पहुँचे। वहाँ पर 'साक्षी गोपाल' का दर्शन करने के उपरान्त वे क्रमशः भुवनेश्वर जा पहुँचे। भुवनेश्वर का पौराणिक नाम एकाम्रकानन है। यह अति पवित्र स्थान है, शिव का परमप्रिय क्षेत्र है। यहाँ का विन्दु सरोवर भी एक अति पवित्र तीर्थ है। भारतवर्ष में चार पवित्र सरोवर हैं— कैलाश में मानस सरोवर, कच्छ प्रदेश में नारायण सरोवर, किष्किन्धा में पम्पा सरोवर और भुवनेश्वर में विन्दु सरोवर। चैतन्यदेव ने विन्दु सरोवर में स्नान के पश्चात् भुवनेश्वर और गौरी का दर्शन-पूजन आदि करके विशेष आनन्द का बोध किया। भुवनेश्वर का दर्शन करके उनका अन्तर अभिभूत हो उठा और वे प्रेमपूर्वक स्तवपाठ करने लगे। मनोहर छन्द में रचित, शुद्ध उच्चारण के साथ सुस्वर में पठित वह स्तव सुनकर, वहाँ उपस्थित सभी लोग तथा मन्दिर के पुजारी-सेवक आदि उस ओर आकृष्ट हुए और तेजपुंज संन्यासी का दर्शन पाकर सबने भक्तिपूर्वक उनका अभिनन्दन किया। मुरारी गुप्त द्वारा रचित 'चैतन्यचरित' ग्रन्थ में चैतन्यदेव द्वारा उच्चरित वह स्तव पूरा का पूरा दिया हुआ है।

भुवनेश्वर शिव का प्रसाद पाने के लिए चैतन्यदेव के मन में तीव्र इच्छा हुई; परन्तु मुख खोलकर उन्होंने अपनी इस आकांक्षा को किसी के सम्मुख व्यक्त नहीं किया। तो भी सर्वान्तरयामी भुवनेश्वर से वह अज्ञात

न रही। एक पुजारी ब्राह्मण ढेर सारा प्रसाद ले आये और परम स्नेह के साथ उन्हें अर्पित किया। भुवनेश्वर के अयाचित कृपा का निदर्शन पाकर चैतन्यदेव के मन में भक्ति सैकड़ों गुना बढ़ गयी। तत्पश्चात् वे लोग वहाँ से चलकर कमलपुर आये और वहाँ भार्गी नदी में स्नान करके 'कपोतेश्वर महादेव' का दर्शन किया।

यह सब स्थान नित्यानन्दजी ने पहले से ही देख रखा था और इन सबके महात्म्य और इतिहास से वे विशेष रूप से परिचित थे। उनके मुख से उन स्थानों की कथा सुनकर चैतन्यदेव तथा भक्तों के हृदय में आनन्द की तरंगें उठने लगती थीं। इसी प्रकार साक्षी-गोपाल का दर्शन हो जाने पर नित्यानन्द ने सविस्तार गोपाल की अद्भुत कहानी सुनाकर सबको मुग्ध कर लिया। उस कहानी का सार संक्षेप इस प्रकार है—

किसी समय एक वृद्ध ब्राह्मण एक ब्राह्मण युवक को साथ लेकर वृन्दावन की तीर्थयात्रा पर गये थे। युवक के सेवा-यत्न से वृद्ध को अतीव सन्तोष का अनुभव हुआ और गाँव लौटने पर उन्होंने उसे अपनी कन्या अर्पित करने की इच्छा व्यक्त की। युवक का कुल वृद्ध की अपेक्षा हीन था, अतः इस सम्बन्ध को असम्भव सोचकर वह बारम्बार वृद्ध से इस संकल्प को त्याग देने का अनुरोध करने लगा। परन्तु वृद्ध किसी प्रकार भी राजी नहीं हुए। वे एक मन्दिर में प्रतिष्ठित श्रीगोपाल के विग्रह को साक्षी बनाकर उस युवक के साथ अपनी कन्या का विवाह कर देने को वचनबद्ध हो गये। तीर्थ दर्शन के पश्चात् गाँव को लौट आने पर जब वृद्ध ने उस युवक को कन्यादान करना चाहा, तो उनके सभी सगे-सम्बन्धियों न इसका

विरोध किया । अन्तर में प्रबल आकांक्षा रहते हुए भी वृद्ध अपने नातेदारों के प्रतिवाद की उपेक्षा नहीं कर सके और उस युवक को जमाता नहीं बना सके । युवक वृद्ध की मनोदशा भलीभाँति समझ गया । वृद्ध की सत्यरक्षा में तत्पर होकर उसने ग्रामवासियों के समक्ष शिकायत की । न्यायकर्ताओं ने साक्षी लाने का आदेश दिया । तब निरुपाय होकर वह भक्त युवक दूर के प्रदेश में स्थित उस गोपाल मन्दिर में गया और कातर भाव से प्रार्थना करने लगा—'प्रभो ! यदि तुम स्वयं ही वहाँ उपस्थित होकर साक्ष्य न दो तो ब्राह्मण का धर्म नष्ट हो जायेगा । हे दयामय ! आश्रित दास के प्रति दया करो ।" भक्त की कामना पूर्ण करने हेतु गोपाल का आदेश हुआ—"युवक ! तुम निःशंक चित्त से गाँव को जाओ । मैं स्वयं तुम्हारे पीछे पीछे वहाँ आकर गवाही दूंगा; परन्तु खबरदार, कभी अविश्वासी होकर पीछे मुड़कर न देखना । यदि तुम पीछे की ओर मुड़कर देखोगे तो मैं आगे नहीं बढ़ूँगा । चलना आरम्भ करने के बाद, पीछे पीछे मेरे आने के संकेत के रूप में तुम नूपुर की ध्वनि सुन पाओगे ।"

युवक ब्राह्मण ने भक्तिपूर्ण हृदय के साथ बारम्बार भूमि पर लोटकर प्रणाम किया और तदनन्तर गाँव की ओर लौट चला । चलते समय पीछे से आती नूपुर की मधुर ध्वनि सुनकर उसके मन में जो आनन्द हो रहा था, उसे कहकर नहीं बताया जा सकता । विश्वासी ब्राह्मण ने एक बार भी पीछे मुड़कर नहीं देखा । चलते-चलते अनेक दिन बाद जब वह गाँव के निकट पहुँचा तो अचानक ही उसके मन में आया, "जिसे गवाही देने को

लिवा जा रहा हूँ, उसे एक बार भी मैंने अपनी आँखों से नहीं देखा।" ऐसा सोचकर सरल ब्राह्मण ने ज्योंही पीछे मुड़कर देखा, त्योंही नूपुर की ध्वनि बन्द हो गयी। युवक चकित रह गया और अपनी निर्बुद्धिता को समझकर अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ अपनी गल्ती के लिए क्षमा याचना करने लगा। ब्राह्मण की मनोव्यथा देखकर गोपाल द्रवित हुए और कहा, "तुम मेरा आदेश मानकर अब मत बढ़ना, मैं यहीं रहकर तुम्हारा साक्ष्य प्रदान करूँगा।" भक्तिमान ब्राह्मण की आकांक्षा पूरी हुई और गोपाल के अविर्भाव से सब लोग विस्मित रह गए। वृद्ध के कन्यादान में अब सगे-सम्बन्धियों को उज्र-एतराज नहीं रह गया। तभी से इस स्थान पर प्रकट हुए गोपाल भक्तों पर कृपा कर रहे हैं। विवाहोपरान्त वह युवक अपनी सहधर्मिणीसह पूरे हृदय से ही गोपाल की सेवा में लग गया। साक्षी गोपाल की मूर्ति त्रिभंग-बंकिम है और मुरली धारण किए है। वे पीताम्बर और मोहनचूड़ा से सुसज्जित हैं। उनकी सेवापूजा, भोगराग और साज-सज्जा भी बड़े नियमित रूप से होती है।*

अस्तु। यात्रीगण पुरी की ओर अग्रसर होते रहे। रास्ते में काफी दूर से ही जगन्नाथ मंदिर की ध्वजा दीख

* चैतन्यदेव के काल में साक्षीगोपाल का मन्दिर कटक में था। अब वह पुरी के निकट स्थित साक्षीगोपाल नामक स्थान में है। विद्यानगर (राजमंद्री) नामक स्थान में ब्राह्मण पर कृपा करके साक्षीगोपाल प्रकट हुए थे। फिर कटक के राजा उस देश पर विजय लाभ करने के बाद गोपाल को कटक ले आये—ऐसी किम्बदन्ती है।

पड़ती है। कमलपुर पहुँचते ही उस पवित्र पताका के दर्शन होने लगे और परिव्राजकगणों का मनमयूर आनन्द से नाच उठा।

जगन्नाथ के पादपद्म का स्मरण करते हुए सबने भूमि पर लोटकर प्रणाम किया। जगह जगह भगवद्-भक्ति और हरिनाम का प्रचार करते हुए, त्रिताप-दग्ध जीवों को शान्ति पाने का सच्चा पथ दिखाते हुए, चैतन्यदेव भक्तमण्डली के साथ पुरी के प्रवेश द्वार अठारहनाला आ पहुँचे। जिस उद्देश्य से वे इतने दुःख कष्ट सहकर, वाधा-विघ्नपूर्ण सुदीर्घ पथ पारकर यहाँ पहुँचे, वह आज सिद्ध हुआ। अठारहनाला पहुँचकर सबका हृदय प्रेमभक्ति से सराबोर हो उठा। पथ पर चलते समय भी चैतन्यदेव भावावेश में रहते थे अतः बहुधा बाह्य विषयों की ओर उनका लक्ष्य नहीं रहता था। इस कारण उनका दण्ड नित्यानन्द ही वहन करते चलते थे। पुरी में प्रवेश करने के पूर्व अठारहनाला में चैतन्यदेव ने अपने हाथ में धारण करने को अपना दण्ड माँगा, परन्तु वह उन्हें मिल नहीं सका। पता चला कि अवधूत ने दण्ड तोड़कर भार्गी* नदी में बहा दिया है। निःसन्देह अवधूत श्रेष्ठ ने यह सोचकर ही ऐसा किया था कि चैतन्यदेव के समान ब्रह्मविद्वरिष्ठ परमहंस शिरोमणि को बाह्य दण्ड धारण करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु दण्ड विसर्जित कर देने की बात सुनकर चैतन्यदेव को बड़ा दुःख हुआ और इस पर सबसे नाराजी व्यक्त करते हुए वे

* उस स्थान पर वह नदी अब भी दण्डभंगा नाम से जानी जाती है।

बोले—"अब से मेरी एकाकी चलने की इच्छा है; तुम लोग पीछे आना—मैं आगे जा रहा हूँ।"

यह कहने के बाद संगी लोगों को पीछे छोड़कर वे शीघ्रतापूर्वक अकेले ही चलने लगे। थोड़ा आगे बढ़ते ही श्रीमन्दिर दृष्टिगोचर होने लगा।

(क्रमशः)

卐

# प्रकृति और परमात्मा

## (गीताध्याय ७, श्लोक ३-७)

*स्वामी आत्मानन्द*

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संस्थापक सचिव तथा 'विवेक ज्योति' के भूतपूर्व सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आश्रम के रविवासरीय सत्संग में श्रीमद्‌भगवद्-गीता पर २ जुलाई १९६७ से १८ फरवरी १९७६ तक २१३ प्रवचन दिये थे जो विवेक ज्योति में धारावाहिक रूप से प्रकाशित किये जा रहे हैं। उनमें से प्रथम ४४ प्रवचन पुस्तकाकार रूप में गीता तत्त्व चिन्तन भाग १ के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। –स.)

पूर्व श्लोक में ज्ञान और विज्ञान का विवेचन करते हुए बताया गया कि ज्ञान से तात्पर्य तात्त्विक ज्ञान से है कि ईश्वर हैं और वे सब के अन्तर्यामी हैं। यह ज्ञान शास्त्रों के अध्ययन और मनन से प्राप्त होता है तथा जब गुरु कृपा से स्वयं में तथा सर्वत्र ईश्वर की अनुभूति होती है और उसके अनुरूप जीवन यापन होता है तो उसे विज्ञान कहते हैं। भगवत्पाद शंकराचार्य ने इस विज्ञान को 'स्वानुभवसंयुक्तम्' अर्थात् अपने अनुभव से युक्त ज्ञान की संज्ञा दी है। श्रीरामकृष्ण इसे अपनी सरल सहज भाषा में समझाते हुए कहते हैं, "यह जानना कि लकड़ी से आग उत्पन्न की जा सकती है, ज्ञान है किन्तु लकड़ी से आग प्रज्वलित कर अपना भोजन पकाना और उस भोजन से हृष्ट-पुष्ट होना विज्ञान है। यह विज्ञान जिसे प्राप्त हो गया उसके लिए इस संसार में और कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। छांदोग्य उपनिषद् में हम श्वेतकेतु के पिता आरुणि को उससे यह प्रश्न पूछते हुए

पाते हैं——येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति (छां. उ. ६/१/३)—"वह क्या है जिसे जान लेने से कुछ न सुनकर भी सब कुछ सुना हुआ हो जाता है, कुछ न समझकर भी सब कुछ समझा हुआ हो जाता है तथा कुछ न जानकर भी सब कुछ जाना हुआ हो जाता है।" और इसके उत्तर में आरुणि स्वयं ही उसे समझाते हुए कहते हैं—यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (छा.उ. ६/१/४)——"हे सौम्य, मिट्टी के एक ढेले (के भीतरी तत्व) को जान लेने से यह ज्ञात हो जाता है कि मिट्टी के सभी पदार्थ उसी मिट्टी के विभिन्न नाम रूप धारण करनेवाले विकार हैं और केवल मृत्तिका ही सत्य है।" उसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान होने के पश्चात् दूसरा और कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता।

आगे के श्लोक में इस ज्ञान की दुर्लभता का वर्णन करते हुए श्री भगवान् कहते हैं——

**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।**
**यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ।।७।३**

सहस्रेषु (हजारों) मनुष्याणां (मनुष्यों में) कश्चित् (कोई एक ही) सिद्धये ([मोक्ष रूप] सिद्धि के लिए) यतति (प्रयत्न करता है) (च) (और) यतताम् (प्रयत्न करनेवाले) सिद्धानाम् (योगियों में) अपि (भी) कश्चित् (कोई एक ही) माम् (मुझको) तत्त्वतः (तत्त्व से) वेत्ति (जानता है)।

"हजारों मनुष्यों में कोई एक ही (मोक्ष रूप) सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है, (और) प्रयत्न करनेवाले योगियों में भी कोई एक ही मुझको तत्त्व से जानता है।"

हिन्दू शास्त्रों के अनुसार वही जीवात्मा जो मनुष्य देह में जन्म ग्रहण करता है, ईश्वर की अनुभूति करने में समर्थ होता है। मनुष्येतर निम्न योनि (पशु, पक्षी, पौधे आदि) तथा उच्चतर योनि (देव, गन्धर्व आदि) भोग-योनियाँ कहलाती हैं और वे इन योनियों में अपने पूर्व की मनुष्य योनि में किये गये कर्मों के फल का ही भोग करती हैं। संसार के समस्त जीवों में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो अपने तथा ईश्वर के बारे में तथा ईश्वर से अपने सम्बन्ध के बारे में जिज्ञासा कर सकता है। पर ऐसी जिज्ञासा हजारों मनुष्यो में से बिरले ही कुछ लोगों में होती है और ऐसे हजारों जिज्ञासुओं में बिरले ही कुछ ऐसे सिद्ध होते हैं जो ज्ञान प्राप्ति का उपाय जान पाते हैं तथा उसके लिए प्रयत्नशील होते हैं। शंकराचार्य ने 'सिद्धानां' का अर्थ यों किया है—सिद्धा एव हि ते ये मोक्षाय यतन्ते—'जो मोक्ष के लिए प्रयत्न करते हैं वे ही सिद्ध हैं। तथा ऐसे हजार सिद्धों में बिरला ही कोई एक ईश्वर का ज्ञान लाभ कर पाता है। ईश्वर के स्वरूप तथा विविधता से पूर्ण उनके जीव जगत को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। वे निर्गुण निराकार होते हुए भी सगुण साकार हैं तथा और भी बहुत कुछ हैं इसलिए उनके स्वरूप की अवधारणा कर पाना अत्यन्त दुरूह है। इसलिए अगले दो श्लोकों में श्रीभगवान् इस तत्त्व को समझाने के लिए अपनी परा और अपरा प्रकृति का वर्णन करते हैं।

**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।**
**अहंकारं इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥७/४**

भूमिः (पृथ्वी) आपः (जल) अनलः (अग्नि) वायुः (वायु)

खम् (आकाश) [च] [और] मनः (मन) बुद्धिः (बुद्धि) च (तथा) अहंकारः (अहंकार) एव (भी) इति (ऐसे) इयम् (यह) अष्टधा (आठ प्रकार की) भिन्नाः (विभक्त हुई) मे (मेरी) प्रकृतिः (प्रकृति है)।

"पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार भी—इस प्रकार यह मेरी आठ प्रकार की विभक्त हुई प्रकृति है।"

**अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।**
**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥७/५**

इयम् (यह) अपरा (अपरा [जड़ प्रकृति] है) तु (किन्तु) महाबाहो (हे महाबाहो) इतः (इससे) अन्याम् (दूसरी को) मे (मेरी) जीवभूताम् (जीवरूपा) पराम् (परा [चेतन]) प्रकृतिम् (प्रकृति) विद्धि (जान) यया (जिससे) इदं (यह [समस्त]) जगत् (जगत्) धार्यते (धारण किया जाता है)।

"यह मेरी अपरा (अर्थात् जड़ प्रकृति) है; किन्तु हे महाबाहो! इससे अन्य मेरी जीवरूपा परा (अर्थात् चेतन) प्रकृति को जान, जिसके द्वारा यह (समस्त) जगत् धारण किया जाता है।"

उपर्युक्त दो श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण अपरा और परा प्रकृति का विवेचन करते हैं। अपरा प्रकृति के बारे में वे कहते हैं कि यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार ऐसे आठ भागों में विभक्त है। सांख्य दर्शन में भी प्रकृति आठ भागों वाली कही गई है—जिसमें गन्धादि पंच तन्मात्राएँ, अहंकार, महत्तत्त्व तथा अव्यक्त सन्निहित है। अतः यहाँ वर्णित पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से तात्पर्य स्थूल

पंच भूतों से नहीं है, किन्तु गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द तन्मात्राओं से है। इसी प्रकार मन शब्द से केवल मन न समझकर उसके कारणभूत अहंकार को समझना चाहिए तथा बुद्धि से तात्पर्य बुद्धि का कारण महत्तत्त्व है और अहंकार से तात्पर्य उसके कारणभूत अव्यक्त अथवा अविद्या स है। शंकराचार्य कहते हैं—अहंकार इति अविद्या संयुक्तम् अव्यक्तम्। यथा विषसंयुक्तम् अन्नं विषम् उच्यते एवम् अहंकारवासनावद् अव्यक्तं मूल-कारणम् अहंकार इति उच्यते प्रवर्तकत्वाद् अहंकारस्य। अर्थात् अहकार ही अविद्या संयुक्त अव्यक्त है। जैसे विषयुक्त अन्न भी विष ही कहा जाता है वैसे ही अहंकार और वासना से युक्त अव्यक्त—मूल प्रकृति भी 'अहंकार' नाम से जानी जाती है क्योंकि अहंकार सबका प्रवर्तक है।

सांख्य सूत्र में कहा गया है—सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियम् तन्मात्रेभ्यः स्थूल भूतानि। अर्थात्—"त्रिगुण की साम्यावस्था का नाम 'प्रकृति' है। जब प्रकृति क्षुब्ध होती है तब उसकी साम्यावस्था नहीं रहती। प्रकृति के गुण वैषम्य से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत्तत्व विकार को प्राप्त हो अहंकार होता है। अहंकार के परिणाम हैं—पंचतन्मात्रा, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। तथा तन्मात्राओं से स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं।" स्थूल भूत पंच तन्मात्राओं के पंचीकरण से उत्पन्न होते हैं। जैसे स्थूल आकाश=१/२ आकाश तन्मात्रा +१/८ वायु तन्मात्रा +१/८ अग्नि तन्मात्रा +१/८ जल तन्मात्रा +१/८ पृथ्वी तन्मात्रा। इसी प्रकार स्थूल

वायु, स्थूल अग्नि, स्थूल जल तथा स्थूल पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इन सारे अपंचीकृत तन्मात्राओं अथवा सूक्ष्म भूतों के संमिश्रण से पंचीकृत या स्थूल भूत समूह उन्पन्न हुए हैं। प्रत्येक स्थूल भूत में अन्य स्थूल भूतों के अंश परिलक्षित होते हैं। इन स्थूल भूतों से ही चौदह लोक तथा चार प्रकार के स्थूल शरीर--जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज तथा इन चार प्रकार के स्थूल शरीरों के भोगोपयोगी नाना प्रकार के अन्नपान आदि उत्पन्न हुए हैं। ये सब अपरा प्रकृति के अन्तर्गत आते हैं। बाद के श्लोक में भगवान् कहते हैं यह अष्टधा अपरा निकृष्ट है। क्यों? प्रकृति के जड़त्व तथा स्वातंत्र्य रहित होने के कारण वह निकृष्ट कहलाती है। उससे उत्कृष्ट परा प्रकृति है जो चेतनामयी है तथा जो अपने कर्म से इस जड़ जगत् को धारण करती है। शंकराचार्य कहते हैं--'अपरा, न परा, निकृष्टा अशुद्धा अनर्थकरी संसार-बन्धनात्मिका।' अर्थात् अपरा प्रकृति निकृष्टा, अशुद्ध तथा अनर्थ करने वाली है तथा संसार बन्धन का कारण है तथा परा प्रकृति क्या है?—'मे परां प्रकृष्टां जीवभूतां क्षेत्रज्ञलक्षणां प्राणधारय-निमित्तभूतां। यया प्रकृत्या इदं धार्यते जगत् अन्तः-प्रविष्टया।' अर्थात् परा प्रकृति जीव रूपा है अर्थात् प्राणधारण के निमित्त बनी हुई है। यह क्षेत्रज्ञरूपा है जो अन्तर में प्रविष्ट होकर सारे जगत् को धारण किये हुए है। इस प्रकार भगवान् अपनी इन दो प्रकृतियों को जगत् का कारण दर्शाते हुए अगले श्लोक में स्वयं को जगत् की उत्पत्ति तथा लय का स्थान स्पष्ट करते हैं।

**एतद्योनीति भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।**
**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।।७/६**

सर्वाणि (समस्त) भूतानि (भूतगण) एतद्योनीनि (इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न हुए हैं) इति (यह) उपधारय (जान ले)। अहं (मैं) कृत्स्नस्य (सम्पूर्ण) जगतः (जगत का) प्रभवः (उत्पत्ति) तथा (तथा) प्रलयः (विनाश (का कारण) हूँ)।

"तू यह जान ले कि समस्त प्राणी इन दो प्रकृतियों (परा और अपरा) से ही उत्पन्न हुए हैं तथा मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और विनाश का कारण हूँ।"

तो परा चैतन्य है और अपरा जड़। और जिस समय ये दोनों प्रकृतियाँ मिलती हैं तो जीव जगत् की उत्पत्ति होती है। यह सुनकर मन में प्रश्न जागता है कि फिर भगवान् क्या हैं ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि मैं इन दोनों को मिलाने वाला तत्व हूँ। इन दोनों को मिला कर मैं जगत् का सृजन, पालन और संहार करता हूँ। गीता और सांख्य शास्त्र में हम यहीं पर भेद पाते हैं। सांख्य के अनुसार प्रकृति जड़ है किन्तु पुरुष के सान्निध्य से जड़ प्रकृति में चैतन्य का संचार होता है तथा पुरुष चेतन तो है किन्तु वह निर्विकार, अकर्ता और केवल साक्षीमात्र है। प्रकृति और पुरुष दोनों के युक्त हुए बिना सृष्टि का कार्य नहीं हो सकता। फिर सांख्य के अनुसार पुरुष की संख्या अनन्त है अर्थात् जितने प्राणी हैं सबमें पुरुष हैं तथा सभी पुरुषों की मुक्ति सम्भव है। किन्तु गीता के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। यह ब्रह्म ही अपनी माया के साथ संयुक्त हो स्थूल, सूक्ष्म पदार्थों के रूप में प्रकट होता है तथा जीव जगत् का

उपादान कारण बनता है। गीता में सांख्य के पुरुष और प्रकृति को ही परा और अपरा प्रकृति के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु सृष्टि के विषय में प्रकृति के स्वातन्त्र्य को स्वीकार नहीं किया गया है। वहाँ कहा गया है, "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम"—मेरे अधिष्ठान के द्वारा प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। तथा "तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता' —प्रकृति उन सबकी गर्भधारिणी माता है और मैं गर्भाधान करनेवाला पिता हूँ।" अतः गीता के मत में मूल तत्त्व पुरुष या प्रकृति नहीं है, पुरुषोत्तम या परब्रह्म परमात्मा ही मूल तत्व हैं। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि मैं इन दोनों प्रकृतियों को मिलानेवाला तत्त्व हूँ। तो यह जो अपरा प्रकृति है आठ तत्त्वों वाली वह जड़ है तथा परा प्रकृति चैतन्यात्मक है। ये दोनों प्रकृतियाँ जब मिलती हैं तभी संसार में चेतना दिखाई देती है। जैसे यदि शरीर से प्राण निकल जाय तो वह मुर्दा हो जाता है, वह किसी काम का नहीं। उसी प्रकार प्राण रहे और शरीर न हो, तब भी वह किसी काम का नहीं। अतः जीवन की उत्पत्ति के लिए दोनों का योग अत्यन्त आवश्यक है। इन दोनों को मिलाकर जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय कराना यह ईश्वर का कार्य है। इसीलिए १५वें अध्याय में क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम की बात कही गई है। जो अपरा है, जड़ प्रकृति है वह है क्षर तथा जो परा,, चैतन्य रूपा प्रकृति है वह है अक्षर और इन दोनों से परे इन दोनों को मिलानेवाले हैं—वे हैं पुरुषोत्तम। यह जो अक्षर है वह चैतन्यात्मिका होने के कारण ईश्वर के समान है पर वह मानों ईश्वर

से अलग हो गया है। कल्पना कीजिए जैसे आग है। आग से धुँआ भी निकलता है और आग के कण भी जिसे हम स्फुलिंग कहते हैं। अब धुँआ और आग में कोई सादृश्य नहीं है पर आग और उसके स्फुलिंग में समानता है। इसी प्रकार ईश्वर चैतन्य स्वरूप हैं और उसकी दो प्रकृतियाँ हैं जड़ात्मक और चैतन्यात्मक। चैतन्यात्मक प्रकृति और ईश्वर में जो कि चैतन्य स्वरूप है, समानता है किन्तु जड़ात्मक प्रकृति और ईश्वर की कोई समानता नही है। प्रश्न उठता है कि चैतन्यमय ईश्वर से जड़ प्रकृति कैसे निकली। इसके उत्तर में कहा जाता है कि यही ईश्वर की माया है। जैसे शरीर को लें। इसमें चैतन्य का भी अंश है और जड़ का भी। हमारे शरीर के अन्दर प्राणों का स्पन्दन हो रहा है यह है चेतनता की पहचान। फिर इस शरीर में जड़ पदार्थ भी निकलते हैं जैसे नख, केश आदि जिसमें कोई जीवन नहीं है। इसी प्रकार आग से धुँआ और स्फुलिंग दोनों निकलते हैं। यह जो धुँआ है वह है आग का तटस्थ लक्षण तथा स्फुलिंग है स्वरूप लक्षण। जब हम आग के बारे में कहते हैं तो धुँआ और स्फुलिंग दोनों को लेकर समझना होगा। ठीक इसी प्रकार क्षर और अक्षर, परा और अपरा प्रकृति को मिलाकर ईश्वर को समझना होगा। हमने देखा कि अपरा प्रकृति के अन्तर्गत पंच महाभूत हैं तथा मन, बुद्धि और अहंकार हैं। पंच महाभूतों से स्थूल देह की सृष्टि होती है तथा मन, बुद्धि और अहंकार से सूक्ष्म देह की जिसे हम अन्तःकरण या मनोयंत्र भी कहते हैं। ये दोनों ही देह जड़ हैं पर स्थूल देह के जड़त्व तथा मनोयंत्र के जड़त्व में अन्तर है। और

अन्तर यह कि स्थूल देह में आत्म चैतन्य को रिफलेक्ट (Reflect) (प्रतिबिम्बित) करने की क्षमता नहीं है जबकि मनोयंत्र उसे रिफलेक्ट करता है। उदाहरण के लिए एक स्फटिक लें। स्फटिक के सामने यदि आप सफेद फूल रख दें तो वह स्फटिक सफेद दिखाई देगा यदि लाल रंग का फूल रखें तो वह लाल दिखाई देगा पर स्फटिक का अपना कोई भी रंग नहीं है। वह तो पारदर्शी है। वह अपने सामने रखे जिस किसी वस्तु का रंग धारण कर लेता है। ठीक उसी प्रकार मन जड़ होते हुए भी आत्म चैतन्य को प्रतिफलित करने के कारण चैतन्य प्रतीत होता है। परन्तु यह उधारी लिया हुआ चैतन्य है स्वयं उसका अपना कोई चैतन्य नहीं है। चैतन्य तो आत्मतत्त्व का है। आत्मतत्त्व के दो गुण है—एक तो है गुणवत्ता और दूसरा है चैतन्यवत्ता। ये हर समय प्रकट नहीं होते। ये वहीं प्रकट होते हैं जहाँ पर मनोयंत्र होता है। जैसे रसायन शास्त्र में 'कैटेलेटिक एजेन्ट' (Catalytic agent) (उत्प्रेरक पदार्थ) की बात पढ़ते हैं। दो द्रव्यों के बीच यदि रसायनिक क्रिया नहीं होती है तो उनके बीच एक कैटेलेटिक एजेन्ट रख दिया जाता है उससे द्रव्यों के बीच रसायनिक क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। उससे कैटेलेटिक एजेन्ट में कोई परिवर्तन नहीं होता। ठीक उसी प्रकार इस आत्मतत्त्व के दो गुण गुणवत्ता और चैतन्यवत्ता तभी प्रकट होते हैं जब वहाँ पर मनोयंत्र होता है। यदि मनोयंत्र न हो तो ये गुण प्रकट नहीं होते। मन में प्रश्न उठ सकता है कि पत्थर के टुकड़े में आत्मतत्त्व है या नहीं ? यदि है तो उसमें चैतन्य प्रकट क्यों नहीं होता ? इसके उत्तर में कहा जा

सकता है कि पत्थर में आत्मतत्त्व है। वह तो सर्वव्यापी है। पत्थर में वह प्रकट नहीं दीखता इसलिए कि पत्थर के टुकड़े में मनोयंत्र नहीं है। उसी प्रकार जब तक मनुष्य जीवित रहता है तो उसमें चेतनता दिखाई देती है क्योंकि उसके भीतर मनोयंत्र है। पर ज्योंही वह मृत्यु को प्राप्त होता है, यह मनोयंत्र जिसे हम जीवात्मा कहते हैं शरीर को छोड़कर निकल जाता है। इस तरह आत्मतत्त्व की गुणवत्ता बंद हो जाती है और शरीर को हम मुर्दा कहते हैं। इसी प्रकार पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े, पेड़ पौधे सभी के भीतर मनोयंत्र होने के कारण वे चैतन्य प्रतीत होते हैं। चूंकि आत्मतत्त्व सर्वव्यापी है इसलिए जहाँ भी मनोयंत्र होगा हमें चैतन्य दिखाई देगा, गुणवत्ता दिखाई देगी और जहाँ से मनोयंत्र निकल गया तो आत्मा के रहते हुए भी गुणवत्ता और चैतन्यता दोनों ही दिखाई नहीं देंगे। इस मनोयंत्र की विशेषता यह है कि यह आत्मतत्व को प्रतिफलित करता है और यह उसके समान चैतन्यवान दिखाई देता है। इसलिए यह आत्मस्वरूप बन भी सकता है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—शुद्ध मन और शुद्ध आत्मा एक है। इसका अर्थ क्या? यह कि जब हम मन का शोधन करते हैं तो मन शुद्ध होते होते इतना पारदर्शी हो जाता है कि वह आत्मतत्त्व को पूर्णरूपेण प्रतिबिम्बित कर देता है। जैसे शीशे में यदि धूल जमी हो तो चेहरा साफ नहीं दीखता है पर जब उसे धोकर साफ कर दिया जाता है तब चेहरा जैसा है ठीक वैसा ही प्रतिभासित होता है। ठीक इसी प्रकार जब मन शुद्ध हो जाता है तब वह आत्मचैतन्य अथवा परमात्मा अपने को पूरी तरह प्रतिबिम्बत कर देता है।

इसे ही ज्ञान की अवस्था कहते हैं। अतः परमात्मा ही इन दोनों प्रकृतियों को परा और अपरा को जोड़ने वाले तत्त्व हैं। वे मानों कैटेलेटिक एजेन्ट का कार्य करते हैं। उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। वे ही मानो दोनों प्रकृतियों को मिलाकर जीव जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलय कराते हैं। इसलिए आगे के श्लोक में भगवान् कहते हैं--

**मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।**
**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।7/7**

धनंजय (हे धनंजय) मत्तः (मुझसे) परतरं (श्रेष्ठतर) अन्यत् (अन्य) किंचित् (कोई भी) न (नहीं) अस्ति (है) इदम् (यह) सर्वम् (सम्पूर्ण (जगत्)) सूत्रे (सूत में) मणिगणाः (मणियों के) इव (सदृश) मयि (मुझमें) प्रोतम् (पिरोया हुआ है)।

"हे धनंजय ! मुझसे श्रेष्ठतर अन्य कोई भी (जगत् का कारण) नहीं है। यह सम्पूर्ण (जगत्) सूत में पिरोयी हुई मणियों के सदृश मुझमें पिरोया हुआ है।"

मन में यह प्रश्न जाग सकता है कि दो प्रकार की प्रकृतियाँ हैं परा और अपरा और इनके ऊपर भगवान् है तो क्या इनसे बढ़कर अन्य कोई है। भगवान् कहते हैं मुझसे बढ़कर इस जगत् का कारण कोई नहीं है। बचपन की एक घटना का मुझे स्मरण हो आ रहा है। तब मैं बहुत छोटा था, तीन साल का। हमारे पिताजी शाला के प्रधानाध्यापक थे। एक गुरुजी मुझे अक्षरारम्भ कराने आये। उन्होंने पढ़ाया--देखो यह अ है फिर अ के बाद एक लकीर लगाकर बोले--यह आ है। हमने उसके बाद एक लकीर और लगाकर पूछा--गुरुजी, अब

क्या है ? गुरुजी ने कहा—अब भी आ ही होगा। आ के बाद चाहे जितनी भी लकीर लगाओ वह आ ही होगा। उसी प्रकार भगवान् से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है। भगवान् कहते हैं कि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न मनकों में सूत्र पिरोया रहता है। उसी प्रकार मैं भी सबके भीतर तत्त्व के रूप में भिदा हुआ हूँ। संसार में जो एक श्रृंखला दिखायी देती है वह इसलिए है कि सबके भीतर मैं भिदा हुआ हूँ। जैसे मनकों की माला में मनके अलग-अलग हो सकते हैं, कोई छोटा कोई बड़ा, कोई लकड़ी का तो कोई तुलसी का, कोई नीम काष्ठ का, तो कोई पत्थर का, कोई हीरे का, तो कोई काँच का, सब अलग-अलग हो सकते हैं पर सबके बीच में मैं सूत्र के रूप में पिरोया हुआ हूँ। तात्पर्य यह कि यह जड़ चेतन, पर-अपर इत्यादि सापेक्षक अवस्थाएँ वास्तव में स्वतन्त्र नहीं है। इनका आधारभूत इनका वास्तविक स्वरूप, शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्म है। वह परब्रह्म, परमात्मा इन सबमें ओतप्रोत, इनका परम आश्रय है। डा आइन्स्टीन से पूछा गया, "क्या आप ईश्वर को मानते हैं ?" उन्होंने कहा, "हाँ मैं मानता हूँ।"—"आपकी ईश्वर सम्बन्धी धारणा क्या है ?" इसका जो उत्तर आइन्स्टीन ने दिया वह वैज्ञानिक लिकन बार्नेट द्वारा लिखित एक छोटी सी पुस्तक "द युनिवर्स एण्ड डा. आइन्स्टीन में" वर्णित है जहाँ वे कहते हैं—

"My religion consists of a human admiration of the illimitable superior spirit who reveals himself in the slight details we are able to perceive with our frail and

feeble minds. That deeply emotional conviction of the presence of a superior reasoning power, which is revealed in the incomprehensible universe forms my idea of god"

—...'मेरा धर्म उस अनन्त श्रेष्ठ सत्ता के प्रति, जिसे हम अपने कमजोर तथा क्षीण मन के द्वारा यत्किंचित रूप में देखने में समर्थ होते हैं, सविनम्र श्रद्धा में निहित है। उस श्रेष्ठ विवेक शक्ति की अवस्थिति का गहरा भावप्रवण विश्वास जो कि अबोधगम्य विश्व में प्रकट होता है, यही मेरी ईश्वर सम्बन्धी धारणा है।' आइन्स्टीन के लिए ईश्वर 'श्रेष्ठ विवेक शक्ति' है जो जड़ नहीं, चैतन्यस्वरूप है जिसकी तहत प्रत्येक वस्तु श्रृंखलाबद्ध रूप से कार्य कर रही है तथा जहाँ प्रत्येक कार्य में क्रमबद्धता है इसके फलस्वरूप ही वैज्ञानिक अन्तरिक्ष के नियमों को जानकर, चन्द्रमा की धरातल में उतरने में समर्थ हुआ है तथा प्रकृति के रहस्यों के उद्‌घाटन में लगा हुआ है। इसीलिए श्रीभगवान् कहते हैं कि जैसे मणियों में सूत्र पिरोया गया है उसी प्रकार मैं सबके भीतर अनुस्यूत हूँ। वे ही इस जीव जगत् के नियामक है तथा उन्हें जान लेने से और कुछ जानने के लिए बाकी नहीं रहता।

# मानस रोग (१२।२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'श्रीरामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानसरोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनके बारहवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स.)

रामचरितमानस में कहा गया है कि किसी के जीवन में अगर केवल काम है, तो वह वात ज्वर से पीड़ित है। अगर किसी के जीवन में केवल लोभ है, तो वह कफ ज्वर से पीड़ित है और किसी के जीवन में क्रोध है तो वह पित्त ज्वर से पीड़ित है। पर यदि किसी के जीवन में ये तीनों हों, तब क्या होगा? गोस्वामीजी कहते हैं कि अगर तीनों हों तो समझ लेना चाहिए कि—

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा।।
प्रीति करहिं जौ तीनिउ भाई।
उपजइ सन्यपात दुखदाई।।

(७/१२०(ख)/३०-३२)

—बस सन्निपात रोग हो गया है। तो यहाँ पर रावण के संदर्भ में सन्निपात शब्द का ही प्रयोग किया गया है। अंगद जब रावण की सभा में गए, तो रावण बहुत बक-झक करने लगा। अंगद उसे बड़े ध्यान से सुन रहे थे। रावण ने पूछा—"तुमने मेरी बात को तो बड़े ध्यान से सुना, कुछ समझ में आया?" —"क्या समझे?" अंगद

ने कहा—"मैं यही देखने तो आया था कि तुम्हें कौन सा रोग हुआ है ? और अब समझ में आ गया"—

सन्यपात जल्पसि दुर्बादा ।
भएसि कालबस खल मनुजादा ।। (६/३२ख/६)

—"तुम्हें तो सन्निपात हो गया है। जब हनुमानजी जैसा वैद्य भी आकर तुम्हारी चिकित्सा नहीं कर पाया, तब तो तुम्हारी चिकित्सा होना मुश्किल है।"

भगवान राम ने सीधे लंका पर आक्रमण न करक पहले हनुमानजी को वहाँ भेजा था। इसका सांकेतिक तात्पर्य क्या है ? रामचरित मानस में जहाँ पर मानस रोगों का वर्णन आया है, वहाँ मानस रोगों के वर्णन के साथ ही यह भी कहा गया है कि मन के रोगों को नष्ट करने वाला वैद्य चाहिए। और वह वैद्य कौन है ?

सदगुर वैद बचन बिस्वासा । (७/१२१ख/६)

—"सद्‌गुरु ही वह वैद्य हैं।" हनुमानजी को रावण के पास भेजने का तात्पर्य यह था कि हनुमानजी ही वस्तुतः सद्‌गुरु हैं। वे शंकर के अवतार हैं। इसलिए वे वैद्यों के वैद्य हैं। शंकरजी के लिए रामायण में कहा गया है—

तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना । १/११०/५

—वे त्रिभुवन के गुरु और सब से बड़े वैद्य हैं। और रावण तो एक कल्प में उनके गण के रूप में उनका शिष्य भी रह चुका है। तो भगवान् का तात्पर्य यह है कि रावण जैसा रोगी, जो अपने रोग के द्वारा स्वयं तो दुख पा ही रहा है, पर अपने से भी अधिक वह सारे समाज को दुख में डाल रहा है, उसके रोग का निदान हो जाय। भगवान् चेष्टा यह करते हैं कि रावण के

वध की आवश्यकता न पड़े। तात्पर्य यह है—जैसे, जब हम किसी रोगी को चिकित्सक के पास ले जाते हैं, तो वह पहले तो यही चेष्टा करता है कि औषधि के द्वारा ही रोग शान्त हो जाय। पर अगर औषधि के द्वारा रोग शान्त न हो तो फिर उसकी शल्य चिकित्सा भी करनी पड़ती है। भगवान् ने हनुमानजी को इसीलिए भेजा कि तुम सद्गुरु के रूप में वैद्य हो, इसलिए तुम जाकर रावण के रोग को देखो और उसे दूर करने की चेष्टा करो। रावण यदि स्वस्थ हो जाय, तो इसके परिणामस्वरूप समाज भी स्वस्थ होगा। रावण की अस्वस्थता सारे समाज को विनाश की ओर ले जा रही है। पर हनुमानजी जैसे वैद्य भी चेष्टा करके रावण की चिकित्सा नहीं कर पाते। क्यों? मानस रोग के संदर्भ में पहला सूत्र यह है—

सद्गुर बैद बचन बिस्वासा।

—जो सद्गुरु हैं, वे ही वैद्य हैं और रोगी का पहला कर्तव्य है कि वह उनके वचनों पर विश्वास करे। हनुमानजी ने यहाँ पर रावण के रोगों को पकड़ लिया और उन्होंने यह निर्णय किया कि रावण के रोगों की यह जड़ यदि एक बार नष्ट हो जाय, तो उसके अन्य रोग स्वयं नष्ट हो जाएँगे। इसीलिए हनुमानजी ने तुरन्त रावण से अनुरोध किया कि मैं तुम्हें कुछ और छोड़ने के लिए नहीं कहता, तुम केवल एक ही वस्तु छोड़ दो। क्या?

मोह मूल बहु सूल प्रद, त्यागहु तम अभिमान। ५/२३

—"तुम तमरूप अभिमान का त्याग कर दो।" हनुमानजी इतने उदार हैं कि उसे केवल एक ही वस्तु छोड़ने के लिए कहते हैं। यदि बहुत कुपथ्य करने वाला

रोगी हो और उसको वैद्य अगर सब कुछ छोड़ने के लिए कहे तो शायद वह एक भी बात न माने। तो चतुर वैद्य कहता है कि अच्छा भइ, भले सब न छोड़ सको, पर इतना तो छोड़ ही दो। हनुमानजी ने कहा कि सारे विकारों को भले न छोड़ सको, पर अभिमान छोड़ दो। और अभिमान में भी एक शब्द जोड़ दिया—"तम अभिमान।" चलो, सतोगुणी, रजोगुणी अभिमान को न भी छोड़ पाओ तो कोई बात नहीं है, पर कम से कम तमोगुणी अभिमान को छोड़ दो। और इसका उत्तर रावण की ओर से क्या मिला ?

बोला बिहँसि महाअभिमानी।
मिला हमहि कपि गुर बड़ ज्ञानी ॥ ५/२३/२

रावण ने हँसकर कहा—अच्छा। तो अब मुझे तुम जैसा ज्ञानी गुरु मिला। तुम मेरी चिकित्सा करने, मुझे स्वस्थ बनाने के लिए आये हो ? रावण का हँसकर ऐसा कहने का तात्पर्य यह था कि मुझ जैसा ज्ञानी को एक बन्दर शिक्षा देने आया है। रावण का रोग इतना बढ़ गया है कि हनुमानजी की हितकर बातें भी उसे नहीं सुहाती।

जो सामान्य रोगी होता है, वह तो वैद्य की बातों पर विश्वास करता है और उसके कहे अनुसार पथ्य आदि करता है। पर जब रोग असाध्य हो जाता है और रोगी की मृत्यु होनेवाली होती है, तो बहुधा उसकी प्रकृति कुपथ्य की दिशा में होने लगती है, मानो उसकी प्रकृति भी वैसी ही हो जाती है। वैद्य जो कहता है वह उसका ठीक उल्टा ही करता है। इसीलिए लिखा हुआ है—

काल दंड गहि काहु न मारा ।
हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा ।। ६/३६/७

"काल लाठी लेकर किसी को नहीं मारता । वह धर्म, बल, बुद्धि और विचार को हर लेता है ।" हनुमान जी समझ लेते हैं कि रावण जैसा व्यक्ति स्वस्थ होने की स्थिति में नहीं है । और बाद में अंगद आकर घोषणा कर देते हैं कि तुम तो सन्निपात के रोगी हो । काम, क्रोध और लोभ, इनमें से यदि एक भी जीवन में आ जाए, तो व्यक्ति अस्वस्थ होकर मर सकता है, पर तुममें तो तीनों ही पराकाष्ठा में है । और विशेषकर क्रोध में रावण ने सारे संसार का अहित तो किया ही, पर अपना तो सर्वनाश ही कर लिया । आप देखते हैं कि रावण विभीषण को निकाल देता है । यह रावण के क्रोध का एक दृष्टान्त है । रावण निर्णय लेता है कि मैं अपने कोध की आग में विभीषण को जला दूंगा ।

रावण क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड ।
जरत विभीषनु राखेउ दीन्हेउ राज अखंड ।। ५/४९ (क)

"जब रावण ने अपने क्रोध की आग में विभीषण को जलाने की चेष्टा की, तो संत्रस्त हो विभीषण श्रीराम की शरण में गए । भगवान् श्री राघवेन्द्र ने उस क्रोध की आग को बुझाकर उनको बचा ही नहीं लिया, अपितु उन्हें लंका का अखण्ड राज्य दिया ।" तो रावण के मन में क्रोध की प्रतिक्रिया आयी क्यों ? हुआ यह कि जिस समय रावण ने हनुमानजी को मृत्युदण्ड दिया तो विभीषण आ गए । और विभीषण ने आकर कहा—

नीति विरोध न मारिअ दूता । ५/२३/७

—'दूत को मारना नीति के विरुद्ध है," इसे मत मारिए।

आन दंड कछु करिअ गोसाँई । ५/२३/८

—"इसे कोई दूसरा दण्ड दे दीजिए।" सभी लोगों ने इसका समर्थन किया—

सबहीं कहा मंत्र भल भाई । ५/२३/८

और तब रावण ने तुरन्त कहा—

सुनत बिहसि बोला दसकंधर ।
अंगभंग करि पठइय बंदर ।। ५/२३/१०

—इस बन्दर के शरीर का अंग-भंग करके उसे वापस भेज दो। और कहा—

कपि के ममता पूँछ पर सबहिं कहउँ समुझाइ ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ ।। ५/२४

—"बन्दर की ममता उसके पूंछ में होती है। इसलिए उसकी पूँछ में कपड़ा लपेट तेल में डुबाकर उसमें आग लगा दो।" यही उसके लिए उचित दण्ड होगा। और हनुमानजी के पूँछ में आग लगा दी गयी। उस आग से हनुमानजी ने सारी लंका जला दी। रावण को विभीषण पर क्रोध यह देखकर आया कि सारी लंका जल गयी पर विभीषण का घर नहीं जला। यह बड़ी विचित्र बात है। वह सन्तोष भी कर सकता था कि चलो सब घर जल गए, पर एक घर तो बच गया। हनुमानजी ने विभीषण का घर क्यों नहीं जलाया? यही उनकी नीति कुशलता थी। हनुमानजी वस्तुतः रावण पर साम, दाम, दण्ड और भेद—इन चारों का प्रयोग करते हैं। जब उन्होंने साम का प्रयोग किया तो रावण को भाषण देकर समझाया—

बिनती करउँ जोरि कर रावन।
सुनहु मान तजि मोर सिखावन ।। ५/२१/७

—"हे रावण, मैं हाथ जोड़कर तुमसे विनती करता हूँ, तुम अभिमान छोड़कर मेरी सीख को सुनो।" फिर उसे दाम नीति का लोभ भी दिखाया—

राम चरन पंकज उर धरहू।
लका अचल राजु तुम्ह करहू ।। ५/२२/१

—"तुम भगवान् के चरणकमल को हृदय में धारण कर लंका का अचल राज्य करो।" हनुमान चालीसा में आप लोग पढ़ते हैं—

तुम्हरो मंत्र विभीषण माना।
लंकेश्वर भये सब जग जाना ।।

वह मंत्र कौन सा है, यह हनुमान चालीसा में नहीं लिखा है। पर रामायण में उसका उत्तर मिल सकता है। वह मंत्र तो हनुमानजी ने पहले विभीषण को नहीं, रावण को दिया था, पर रावण ने उस मंत्र का तिरस्कार कर दिया और विभीषण ने उसे ग्रहण कर लिया। हनुमानजी का मंत्र क्या था? यह कि भगवान् के चरणों को तुम हृदय में धारण करो और लंका का अचल राज्य करो। यह सुनकर रावण बिगड़ खड़ा हुआ और बोला—क्या मैं तुम्हारे कहने से लंका का राजा बनूँगा? वह तो मैं पहले से ही हूँ। विभीषण ने इस मंत्र को पूरी तरह से समझ लिया था कि यह बिलकुल ठीक है। वे जब भगवान् राम

की ओर चले तो हनुमानजी के मंत्र का स्मरण करते हुए चले–

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं ।
करत मनोरथ बहु मन माहीं ।।
देखिहउँ जाइ चरण जलजाता ।
अरुण मृदुल सेवक सुखदाता ।। ५/४१/४-५

–"विभीषण हर्षित होकर मन में अनेक मनोरथ करते हुए श्री रघुनाथजी के पास चले कि मैं जाकर भगवान् के कोमल तथा लालवर्ण के सुन्दर चरण कमलों का दर्शन करूँगा, जो सेवकों को सुख देने वाले हैं ।" और भगवान् राम उन्हें लंकेश कहकर लंका का अचल राज्य दे देते हैं । हनुमानजी ने रावण को दाम नीति के द्वारा भी आकृष्ट करना चाहा । पर वह भी सफल नहीं हुआ । फिर उन्होंने दण्ड नीति का प्रयोग करते हुए रावण को धमकाया भी । उन्होंने रावण से कहा–

संकर सहस विष्नु अज तोही ।
सकहिं न राखि रामकर द्रोही ।। ५/२२/८

–"तुम जैसे राम के द्रोही को हजारों शंकर, विष्णु और ब्रह्मा भी नहीं बचा सकेंगे ।" दण्ड नीति के भी असफल हो जाने पर अन्त में हनुमानजी ने भेद नीति का बड़ा कड़ा प्रयोग किया । भेद नीति का तात्पर्य यह है कि जहाँ दो व्यक्ति मिलकर अधिक शक्तिशाली हो रहे हों, वहाँ उन दोनों में फूट पैदा कर दिया जाय । पर यहाँ हनुमानजी की चेष्टा दूसरे प्रकार की है । वह स्वार्थी राजनीतिज्ञों जैसी चेष्टा नहीं है । हनुमानजी ने देखा कि विभीषण और रावण का एक साथ रहना मानो अच्छाई

और बुराई का एक साथ रहना है और इस तरह साथ रहने में अच्छाई का लाभ बुराई को मिल रहा है। क्योंकि विभीषणजी जितनी पूजा-पाठ करते हैं, वह सब रावण के द्वारा दिए गए सभी सुविधाओं के बीच ही तो करते हैं। इसलिए उसका पुण्य भी रावण को मिलता जाता है। इस प्रकार वह पुण्य पाप को शक्ति प्रदान कर रहा है। इसलिए हनुमानजी ने निर्णय लिया कि पुण्य को पाप से अलग कर देना चाहिए। इसलिए हनुमानजी भेदनीति का प्रयोग करते हैं। उनका भेद नीति का प्रयोग क्या था ?

जारा नगरु निमिष एक माहीं।
एक विभीषन कर गृह नाहीं ॥ ५/२५/६

—"उन्होंने सबका घर तो जला दिया, पर विभीषण का घर छोड़ दिया।" और उससे रावण के मन में सचमुच जबरदस्त भेद पड़ गया। रावण ने सोचा कि जब मैंने इस बन्दर को मृत्युदण्ड दिया, तो इसी विभीषण ने आकर रोका था। और इस बन्दर ने सारा नगर जलाया पर इसी का घर छोड़ दिया। लगता है, दोनों मिले हुए हैं। अब मैं इसको सह नहीं सकता। हनुमानजी को अभीष्ट भी यही था कि रावण के मन में विभीषण के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो जाय। और तब रावण ने क्या किया ? वह यह भी निर्णय कर सकता था कि विभीषण को कैद में डाल दे। पर उसने ऐसा नहीं किया। रावण ने सोचा, कि विभीषण अगर तुम समझते हो कि तुम्हारा घर नहीं जला, तो भले ही उस बन्दर ने तुझे न जलाया हो पर—"रावण क्रोध अनल निज" मैं अपने क्रोध की अग्नि के द्वारा तुम्हें जलाकर नष्ट कर दूंगा। और इस

तरह लात मार कर उसे घर से निकाल देता है। अगर रावण क्रोध में आकर विभीषण को निकाल न देता, तो लंका का रहस्य श्रीराम को ज्ञात न हो पाता तथा कम से कम भौतिक संदर्भ में रावण को जीतना उतना सरल नहीं होता। इस तरह रावण का जो अनियंत्रित क्रोध है, अनियंत्रित काम है तथा जो अनियंत्रित लोभ है, वही उसके विनाश का कारण बनता है। वह अपने अनियंत्रित काम के फलस्वरूप जगज्जननी का अपहरण कर लेता है, तथा अनियंत्रित लोभ के कारण अपने बड़े भाई कुबेर के धन को छीनने में संकोच का अनुभव नहीं करता। जब काम की इतनी तीव्रता आ जाय कि कोई जगन्माता पर ही कुदृष्टि डाले और क्रोध इतना तीव्र हो जाय कि बिना अच्छे बुरे का विचार किये, सबको विनष्ट करने पर तुल जाय, तो ऐसी स्थिति में वह सन्निपात से ग्रस्त तो है ही। और इसीलिए अंगद ने रावण से कह दिया कि तुम्हारी बक-झक से पता चल गया है कि तुम सन्निपात की भी अन्तिम दशा में हो। सन्निपात में रोगी जब मरने को होता है, तब बहुत बक-झक करता है। अंगद ने कह दिया—

सन्यपात जल्पसि दुर्बादा।
भएसि कालबस खल मनुजादा॥ ६/३२ ख/६

—"यह निश्चित समझ ले कि तेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है।"

यदि हम विचार करके देखें तो क्रोध मूलतः प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया होती है। क्रोध किस तरह विनाशकारी हो सकता है यह हम मुनियों के शाप से प्रतापभानु का रावण बनने तथा उसके पश्चात् रावण के रूप में

मुनियों के नाश करने में देख पाते हैं। रामायण में क्रोध के अनेक सूक्ष्म रूप दिखाये गये हैं। रामचरित मानस में सबसे सूक्ष्म क्रोध भगवान् राम में परिलक्षित होता है। धनुषयज्ञ के प्रसंग में गोस्वामीजी चार व्यक्तियों की तुलना करते हैं। वहाँ हम जनकजी, लक्ष्मणजी, परशु-रामजी तथा भगवान् राम के क्रोध को देख पाते हैं। अपने-अपने स्थान पर ये चारों व्यक्ति महान हैं, लेकिन इन चारों के क्रोध की शैली में अन्तर है। पहले तो जनकजी को क्रोध आया। क्यों ? जब धनुष नहीं टूटा और सारे राजा निराश होकर बैठ गए तब सबसे पहले जनकजी को क्रोध आया। गोस्वामीजी लिखते हैं—

नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने।
बोले बचन रोस जनु साने॥ १/२५०/६

—गोस्वामीजी यहाँ पर थोड़ी चतुराई करते हैं। वे यह नहीं कहते कि जनक क्रोध में भरकर बोले। वे कहते हैं – "बोले बचन रोस जनु साने।", जनकजी के शब्द ऐसे थे कि लगता था कि वे क्रोध में सने हुए हैं। इसका अर्थ क्या है ? यह क्रोध का सोद्देश्य प्रयोग था। जैसे कहीं बड़ी ठंडक हो जाय, तो गरमी पैदा करने के लिए हम शरीर को रगड़ते हैं। गर्मी पैदा करने का उद्देश्य है शरीर को ठंडा होने से बचाना, मृत्यु से बचाना। इस समय तो सारे राजा धनुष तोड़ने में असमर्थ हो रहे हैं और भगवान् राम और लक्ष्मण ऐसे प्रशान्त भाव से बैठे हुए हैं कि जैसे धनुष के टूटने न टूटने से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जो धनुष तोड़ नहीं सकते, वे चेष्टा करके थक गए, और जो उसे तोड़ने में समर्थ हैं, वे तोड़ने के लिए उद्यत नहीं हो रहे हैं। इसलिए चतुर जनक ने थोड़ी गर्मी

पैदा कर दी, और उनका गर्मी पैदा करना सार्थक था। बात यह है कि ब्रह्म में न तो राग है न रोष। ब्रह्म का लक्षण यही बताया गया है–

जद्यपि सम नहि राग न रोसू।

जब वेदान्त के ब्रह्म में राग और रोष नहीं है, तो वह सक्रिय भी नहीं है। वह तो दृष्टा और कूटस्थ है। पुष्पवाटिका प्रसंग में श्री सीताजी भगवान् राम के मन में राग उत्पन्न करती है। अब रोष की सृष्टि भी आवश्यक थी। पुष्पवाटिका में तो उन्होंने राग को स्वीकार कर लिया, पर धनुष यज्ञ के प्रसंग में आए तो अपनी भूमिका उन्होंने बदल दी।

रामायण में इस बात पर विचार किया गया है कि ईश्वर कैसा है? जितने धर्म हैं, वे भी ईश्वर का वर्णन अलग अलग ढंग से करते हैं। जितने धर्माचार्य और सन्त हैं, उनके वर्णन में भी कभी-कभी अलगाव दिखाई देता है। तो क्या सब गलत कहते हैं? इसका बड़ा सार्थक उत्तर रामायण में श्री भरतजी देते हैं। क्या? वे कहते हैं कि भइ, यदि एक ही वृक्ष को कोई आम का वृक्ष कहे कोई नारियल का और कोई अमरूद का, तो यह सन्देह हो जाएगा कि कहीं ये झूठ तो नहीं बोल रहे हैं? क्योंकि एक ही वृक्ष आम, अमरूद और नारियल का कैसे हो सकता है? पर भरतजी कहते हैं–

मैं जानऊँ निज नाथ सुभाऊ। २/२६६/८

–मैं अपने प्रभु का स्वभाव जानता हूँ। लोगों ने कहा, महाराज, यह तो सभी दावा करते हैं कि हम प्रभु के स्वभाव को जानते हैं। अच्छा, बताइये प्रभु का स्वभाव

कैसा है ? तो भरतजी ने एक सूत्र दे दिया। क्या ?

देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। २/२६६/८

–प्रभु का स्वभाव कल्पतरु के समान है। इसका अर्थ क्या है ? और वृक्षों के बारे में तो यह निश्चित है कि जिस फल का वह वृक्ष है, उसमें वही फल लगेगा। पर कल्पवृक्ष के नीचे जाकर आप जो कल्पना करेंगे, वही साकार होकर, फलवती होकर आपको प्राप्त होगा। अगर किसी ने कल्पतरु के नीचे जाकर नारियल की कल्पना की, तो उसे नारियल मिल जायेगा और वह कहेगा कि यह नारियल का पेड़ है। यदि किसी ने आम की कल्पना की तो उसे आम मिल जायेगा और वह कहेगा कि यह आम है। वस्तुत: कल्पतरु तो कल्पना के अनुरूप ही रूप धारण करता है। श्री भरतजी ने कहा कि ईश्वर कल्पतरु है। उसके नीचे जिस सन्त ने, जिस आचार्य ने, जिस व्यक्ति ने जाकर ईश्वर की जैसी कल्पना की, उसकी कल्पना के अनुरूप ईश्वर उसी रूप में व्यवहार करता है। रामायण में इसका बड़ा विस्तृत प्रसंग है। यहाँ पर भी भगवान् राम की दो भूमिकाएँ हैं। एक पुष्पवाटिका-प्रसंग में और दूसरी धनुष यज्ञ-प्रसंग में। पुष्पवाटिका-प्रसंग में भगवान् राम ने श्री सीताजी के आभूषणों की ध्वनि सुनी। आभूषणों की ध्वनि सुनकर उनके हृदय में राग उत्पन्न हुआ। वहाँ पर लक्ष्मणजी की भूमिका क्या थी ? लक्ष्मणजी ने वाटिका का मोरपंख उठा लिया और भगवान् के माथे पर मोर-पंख से उनका शृंगार कर दिया। इसलिए जब लताकुंज से भगवान् राम प्रकट हुए तो सखियों की दृष्टि उन पर जाती हैं और वे देखती हैं–

मोर पंख सिर सोहत नीके । १/१३२/२

–उनकी शोभा बड़ी अद्‌भुत है। उनके सिर पर मोरपंख शोभायमान है । दूसरे दिन जनकजी के दूत आये और उन्होंने उन्हें धनुषयज्ञ में चलने का निमंत्रण दिया । भगवान् राम जब चलने लगे तो लक्ष्मणजी ने कहा–वह मोरपंख क्यों नहीं बाँध रहे हैं, जो पुष्प वाटिका में बाँधा था । भगवान् राम ने कहा–नहीं, मोरपंख की शोभा पुष्पवाटिका में थी, यहाँ नहीं। यहाँ तो अब वेदान्ती की सभा में जा रहे हैं । जनकजी वेदान्ती हैं न ! वे तो ब्रह्म को सम मानते है । पर भक्त तो मानता है कि ईश्वर पक्षधर है । श्री सीताजी मूर्तिमती भक्ति हैं, इसलिए पुष्पवाटिका में पक्षधरता ठीक थी । पर वेदान्ती मानता है कि ब्रह्म सम है। ऐसी परिस्थिति में अगर यहाँ पक्ष बाँधकर चलूँगा तो वेदान्ती को ब्रह्म ही नहीं लगूँगा । इसलिए उनकी सभा में तो उन्हीं के वेश में चलें । वेदान्ती की सभा में ईश्वर सम है और भक्ति की सभा में ईश्वर पक्षधर है । ईश्वर दोनों रूप में हैं । पर जनक को अनुभव हुआ कि समत्व तो ठीक नहीं है । जो घटनाएँ हो रही हैं, श्रीराम उससे प्रभावित नहीं हो रहे हैं । उसमें कोई राग भी दिखाई नहीं दे रहा है । अगर उनमें सीताजी के प्रति राग होता, तो ज्योंही बन्दी ने कहा कि धनुष तोड़ने वाले को सीताजी मिलेंगी, वे जल्दी से उठकर धनुष को तोड़कर सीताजी को पा लेते । पर वे शान्त बैठे हुए हैं। उनमें न राग है न द्वेष और न कोई आकाँक्षा। वहाँ तो वेदान्त का ब्रह्म साकार होकर वेदान्ती की सभा में बैठा हुआ है । वे तो जनक के कल्पतरु हैं । इसलिए जनक ब्रह्म की जो कल्पना किये बैठ हैं, उसके अनुरूप ही वे शान्त और

निष्क्रिय हैं। पर अब जनकजी को ऐसा लगा कि जब निर्गुण ब्रह्म को सगुण बनाया गया तो यह सगुण ब्रह्म यदि द्रष्टा, कूटस्थ और अचल बना रहेगा और उसमें सक्रियता नहीं आयेगी तब तो यहाँ विवाह का प्रसंग ही पूरा नहीं हो सकेगा। विवाह का प्रश्न तो तभी आवेगा, जब इनके मन में राग हो। और धनुष तो तब टूटेगा, जब इनको क्रोध आवे। अतः राग की सृष्टि के बाद जनक को यह अनुभव हुआ कि इस ब्रह्म में अब रोष की सृष्टि की आवश्यकता है। इसलिए उन्होंने रोष भरे वाक्य कहे। उसका परिणाम क्या हुआ ? ब्रह्म में तो कोई गर्मी नहीं आई, पर लक्ष्मणजी में आ गयी। जनकजी के वाक्य सुनकर भगवान् राम पर तो कोई प्रभाव नहीं हुआ। वे बिलकुल प्रशान्त बैठे रहे। लेकिन जब लक्ष्मणजी ने उनकी बात सुनी तो–

> माखे लखनु कुटिल भइँ भौंहें।
> रदपट फरकत नैन रिसौंहें ।। १/२५१/८

–"वे तमतमा उठे, उनकी भौंहें टेढ़ी हो गयीं, ओठ फड़कने लगे तथा नेत्र क्रोध से लाल हो गये।" उनमें क्रोध तो दिखायी दे रहा है, पर–

> कहि न सकत रघुबीर डर, लगे बचन जनु बान।
> नाइ रामपद कमल सिरु, बोले गिरा प्रमान ।। १/२५२

–तात्पर्य यह कि लक्ष्मणजी का क्रोध हर क्षण नियंत्रित दिखाई दे रहा है। जब वे बोलने चले तो भगवान् के चरणों में प्रणाम किया और तब जनक को बहुत कस करके फटकारा। उसका लाभ यह हुआ कि लक्ष्मणजी की गर्मी के बाद भगवान् राम में भी कुछ उष्मा आ

गयी। लक्ष्मणजी में यह गर्मी न आयी होती तो शायद भगवान् में भी न आती। पर लक्ष्मणजी का क्रोध कितना नियंत्रित है। उनके ओंठ फड़क रहे थे। ऐसा लग रहा था कि लक्ष्मणजी क्रोध में काँप रहे हैं। लेकिन वे नियंत्रित कितने हैं? लक्ष्मणजी भगवान् राम के सामने कह रहे थे—

सुनहु भानुकुल पंकज भानू।
कहहुँ सुभाउ न कछु अभिमानू।।
जौ तुम्हारि अनुसासन पावौं।
कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं।।
काचे घट जिमि डारौं फोरी।
सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी।।
तव प्रताप महिमा भगवाना।
को बापुरो पिनाक पुराना।।
नाथ जानि अस आयसु होऊ।
कौतुकु करौं बिलोकिअ सोऊ।।
कमलनाल जिमि चाप चढ़ावौं।
जोजन सत प्रमान लै धावौं।। १/२५२/४-८

तोरौं छत्रक दंड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।
जौ न करौं प्रभु पद सपथ, कर न धरौं धनु भाथ।।

लखन सकोप बचन जे बोले।
डगमगानि महि दिग्गज डोले।।
सकल लोग सब भूप डेराने। १/२५३/१-२

—हे भानुकुल कमल सूर्य, मैं बिना किसी अभिमान के कहता हूँ, सुनिये—यदि मैं आपकी आज्ञा पाऊँ, तो ब्रह्माण्ड

को गेंद की तरह उठा लूँ और उसे कच्चे घड़े की भाँति फोड़ डालूँ। मैं सुमेरु पर्वत को मूली की तरह तोड़ सकता हूँ, तो यह बेचारा धनुष भला कौन सी चीज है। नाथ! आज्ञा हो तो कुछ खेल करूँ। उसे भी देखिए। धनुष को कमल की डंडी की तरह चढ़ाकर, उसे लेकर सौ योजन तक दौड़ता चला जाऊँ। हे नाथ! आपके प्रताप के बल से धनुष को कुकुरमुत्ते की तरह तोड़ दूँ। यदि ऐसा न करूँ तो प्रभु के चरणों की शपथ है, फिर मैं धनुष और तरकस को कभी हाथ में भी न लूँगा।

ज्योंही लक्ष्मणजी क्रोध भरे बचन बोले कि पृथ्वी डगमगा उठी और दिशाओं के हाथी काँप गये। सभी लोग और सभी राजा डर गये।

लगता है, लक्ष्मणजी में असीम क्रोध है, पर वे इस क्रोध में भी कितने संतुलित हैं। यदि कोई व्यक्ति क्रोध में भरा हुआ हो, काँप रहा हो तो उसको समझाने पर भी उसके समझने में बहुत विलम्ब लगता है। उस समय बुद्धि काम नहीं करती। लेकिन धन्य हैं लक्ष्मणजी, उनका अपने क्रोध पर अद्भुत नियंत्रण है। भगवान् राम को लक्ष्मणजी से एक वाक्य भी नहीं कहना पड़ा कि तुम बैठ जाओ, शान्त हो जाओ, क्रोध मत करो। बस उन्होंने एक ही कार्य किया। क्या?

सयनहिं रघुपति लखनु नेवारे। १/२५३/४

उन्होंने लक्ष्मणजी की ओर इशारा मात्र किया। बस दोनों की आँखें मिली और भगवान् राम के नेत्रों को देखते ही लक्ष्मणजी शान्त होकर बैठ गए। जो उद्देश्य था वह पूरा हो गया। भगवान् राम ने नेत्रों से नेत्र मिला कर कह दिया, अब आगे का काम मैं करूँगा। अब तुम्हारी

भूमिका समाप्त। और लक्ष्मणजी तुरन्त प्रशान्त होकर बैठ जाते हैं। वे भगवान् को प्रेरित कर देते हैं और उसके पश्चात् जब शिवजी का धनुष टूट जाता है, तब परशु-रामजी आते हैं। वे स्वयं काम तथा लोभ के विजेता हैं। उनके जीवन में कभी काम का संचार नहीं हुआ, लोभ का भी संचार नहीं हुआ। लेकिन जैसे कभी कभी औषधिजन्य रोग उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही परशुराम के जीवन में औषधिजन्य रोग की उत्पत्ति हुई है। कभी कभी कफ को शान्त करने के लिए उष्ण दवा दे दी जाती है तो पित्त प्रबल हो जाता है। लोभ रूप कफ को शान्त करने के लिए परशुरामजी ने जो दवा ली तो क्रोध की गर्मी बहुत बढ़ गयी। अब क्रोध की दो मूर्तियाँ—परशुरामजी और लक्ष्मणजी एक दूसरे के आमने सामने हैं। यह एक विचित्र बात है कि एक क्रोधी दूसरे क्रोधी को पसन्द नहीं करता। क्रोध करने वाला यह चाहता है कि हम क्रोध करें पर सामने वाला बिलकुल क्रोध न करे। क्रोध में हम चाहे जितना बकें-झकें, जो कुछ करें, लेकिन सामनेवाला उसको चुपचाप सहता रहे। जब परशुरामजी को पता चला कि लक्ष्मण का स्वभाव मुझसे मिलता जुलता है, तो वे प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने भगवान् राम से यह कह दिया कि राम, तुम तो बड़े अच्छे हो, लेकिन यह तुम्हारा जो भाई है—

अजहुँ अनुज तव चितव अनैसें। १/२७८/७

—यह बड़ा टेढ़ा देखनेवाला है। इसकी आँखों में भी टेढ़ापन है और स्वभाव में भी—

सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही। १/२७६/८

—तो लक्ष्मणजी ने तो बढ़िया व्यंगात्मक उत्तर दिया। लक्ष्मणजी ने कहा—

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया। १/२७७/१

—महाराज, मै तो आपका अनुयायी हूँ। आपको तो प्रसन्न होना चाहिए कि आपका एक अनुयायी भी है यहाँ पर। पर बड़ी विचित्र बात है कि आप स्वयं तो क्रोध करते हैं, और जब मैं क्रोध करता हूँ तो उसे बुरा मानते हैं। लक्ष्मणजी ने आगे कहा—

क्रोधु पाप कर मूल।

जेहि बस जन अनुचित करहिं,
चरहिं बिस्व प्रतिकूल ॥१/२७७

—महाराज, यह क्रोध आपका बड़ा घातक है। इस क्रोध का परित्याग कर दीजिये। परशुरामजी ने भगवान् राम को उलाहना देते हुए कहा कि तुम बड़े भले और श्रेष्ठ स्वभाव वाले व्यक्ति हो लेकिन तुम्हारे चरित्र में एक बहुत बड़ी कमी है। वह यह कि तुम दूसरों को नियंत्रित नहीं कर सकते। तुम समाज का नेतृत्व करने योग्य नहीं हो। जो स्वयं भला हो, पर दूसरों को भला न बना सके, अपने विचारों के अनुकूल अगर न चला सके तो यह उनकी कमी मानी जायगी। और सचमुच चारों ओर लक्ष्मणजी की आलोचना होने लगी। लोग कहने लगे कि परशुराम तो क्रोधी हैं इसलिए लक्ष्मण ही शान्त हो जायें। दोनों अगर क्रोध करते रहेंगे तो न जाने क्या होगा।

लक्ष्मणजी परशुराम पर बार-बार व्यंग कर रहे हैं। जितने स्त्री-पुरुष हैं, वे परशुराम की आलोचना खुलकर तो नहीं कर सकते, क्योंकि वहाँ मालूम है कि आलोचना का पुरस्कार क्या मिलेगा? लेकिन लक्ष्मणजी के विषय में यह निश्चित विश्वास था कि यह जो बालक

है, भले ही क्रोधी हो. पर अपनी आलोचना सुनकर परशु-राम के समान व्यवहार नहीं करेगा। सब के सब काँपते हुए एक स्वर से कहने लगे–

थर थर काँपहि पुर नर नारी।
छोट कुमार खोट बड़ भारी ॥१/२७७/५

–यह छोटा कुमार तो बड़ा खोटा है। जनकजी भी घबरा गये और उन्होंने भगवान् राम से संकेत करते हुए कहा–

मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं।१/२७७/४

–इस बालक के द्वारा अनुचित बोला जा रहा है। उसे रोकना चाहिए, यह ठीक नहीं है। भगवान् राम पर उसकी प्रतिक्रिया क्या हुई? उन्हें क्रोध आया। लेकिन यह क्रोध कितना विचित्र है? उसमें न कठोर शब्द हैं, न ओठ फड़क रहे हैं–कुछ भी नहीं। भगवान् राम के क्रोध की अभिव्यक्ति कितनी सूक्ष्म थी और उस अभि-व्यक्ति को स्वीकार करने वाला कितना नियंत्रित था कि देखकर आश्चर्य होता है। पहले तो ऐसा लग रहा था कि लक्ष्मण को कोई नियंत्रित नहीं कर सकता। पर भगवान् राम का क्रोध जब प्रगट हुआ तो एक अद्भुत दृश्य देखने में आया। उन्होंने अपना क्रोध वाणी में प्रगट नहीं किया? तो क्या किया? गोस्वामीजी ने लिखा–

सुनि लछिमन बिहसे बहुरि, नयन तरेरे राम।१/२७८

–उन्होंने जरा सी आँखें टेढ़ी कर दीं। और इतना नियंत्रण लक्ष्मणजी का–

गुर समीप गवने सकुचि, परिहरि बानी बाम।१/२७८

–एक क्षण में भगवान् राम ने नेत्रों के द्वारा लक्ष्मण

जी को शान्त कर दिया। अनियंत्रित तेजस्विता को नियंत्रित कर दिया। और इसके साथ साथ परशुरामजी को उत्तर भी मिल गया। परशुराम कह रहे थे कि तुम दूसरे पर नियंत्रण नहीं कर पा रहे हो। भगवान् राम ने कहा कि महाराज, यह लड़का तो आँखों के इशारे से मान जाता है, अगर आप हथियार से नहीं मनवा पा रहे थे, तो आपके मनवाने की पद्धति में ही कोई दोष होगा। इसका अभिप्राय यह कि जब हमारा क्रोध असीम और अपरिमार्जित हो जाता है तब वह व्यक्ति और समाज के लिए घातक होता है पर जब सीमा में मर्यादित करके उसका प्रयोग होता है तब वह समाज को स्वस्थता प्रदान करता है।

卐

# क्या वैज्ञानिक प्रवृत्ति सम्पन्न होते हुए आध्यात्मिक होना सम्भव है ? (४)

स्वामी बुधानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक रामकृष्ण मठ-मिशन के विशिष्ट संन्यासियों में थे। वे अपने सेवा-काल में अद्वैत आश्रम, मायावती के भी अध्यक्ष रह चुके थे तथा अन्त में रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली के प्रमुख थे। उन्होंने बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'मन और उसका निग्रह' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रस्तुत लेख माला उनकी एक दूसरी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'Can one be Scientific and yet spiritual ? का हिन्दी रूपान्तर है। रूपान्तरकार स्वामी ब्रह्मेशानन्द रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में कार्यरत हैं। —स.)

## ६. विज्ञान एवं धर्म के आदान-प्रदान की आवश्यकता पर आईन्स्टीन का मत

विज्ञान में अधिकारवादी बनने अथवा उसकी सत्य-निष्ठा के ह्रास के लक्षण किसी भी युग में दिखाई न देने पर भी 'काल प्रवाह' पर विज्ञान का अत्यधिक प्रभाव मानव जाति के हित में नहीं होगा। इस कथन को स्पष्ट करना होगा। और इसका स्पष्टीकरण अल्बर्ट आईन्स्टीन की पुस्तक Out of My Lateryears''[१] में मिलता है। इस पुस्तक में हमारे युग के ये महा-पुरुष विज्ञान और धर्म के विषय में कुछ ज्ञानोद्दीपक बातें कहते हैं जिन्हें अधिकतम लोगों को जानना चाहिए। वे कहते हैं कि वैज्ञानिक प्रणाली, इससे अधिक और कुछ नहीं सिखाती कि एक तथ्य दूसरे से किस

---

१. अल्बर्ट आइन्स्टीन : Out of My Later years, फिलासाफिकल लायब्रेरी, न्यूयार्क, १९५०।

प्रकार सम्बन्धित है तथा एक दूसरे को कैसे प्रभावित करते हैं। अवश्य वे दावा करते हैं कि वस्तुनिष्ठ ज्ञान मानव द्वारा प्राप्य चरम ज्ञान है। और यह समझा भी जा सकता है। आँखों में चमक लाकर वे कहते हैं, 'और आप मुझसे यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि मैं इस दिशा में मानव के साहसिक प्रयास एवं उपलब्धियों को छोटा करूँ।" वे आगे कहते हैं, "फिर भी यह भी उतना ही स्पष्ट है कि 'जो है', का ज्ञान, जो 'होना चाहिए' के ज्ञान का मार्ग प्रशस्त नहीं करता।"[२]

आईन्स्टीन की समीक्षा की दिशा यह है : यह पूरी तरह सम्भव है कि हम एक घटना के विषय में "क्या है" की स्पष्ट धारणा कर पायें। पर इससे हम यह निर्णय करने में समर्थ नहीं होंगे कि मानव के प्रयासों का लक्ष्य क्या होना चाहिए। वस्तुनिष्ठ ज्ञान निश्चय ही हमें कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शक्तिशाली उपकरण प्रदान करता है। लेकिन क्या वस्तुनिष्ठ ज्ञान स्वतः उन उद्देश्यों की ओर बढ़ने की प्रेरणा अथवा लक्ष्य का संकेत प्रदान कर सकता है? आईन्स्टीन इसका असंदिग्ध उत्तर देते हुए कहते हैं : 'नहीं' यह किसी अन्य स्रोत से प्राप्त होना चाहिए। वह स्रोत कौन सा है? आईन्स्टीन के अनुसार वह है धर्म। वे आग्रहपूर्वक कहते हैं कि हमारा अस्तित्व एवं क्रियाकलाप, लक्ष्य एवं तदनुरूप मूल्यों के निर्धारण करने पर ही अर्थपूर्ण हो सकते हैं। अतः जैसा कि इस पुस्तक के पृष्ठों से स्पष्ट है, उनका विश्वास था कि धर्म एवं

२. वही, पृष्ठ २१।

विज्ञान के बीच क्रियात्मक वार्ता, आपसी समझ एवं आदान-प्रदान होना चाहिए । वे निम्न सूक्ति के द्वारा अपने मत का निचोड़ कह डालते हैं : "धर्म के बिना विज्ञान लंगड़ा है; विज्ञान के बिना धर्म अन्धा है ।[3]

यह सम्भव है कि कुछ लोग इस उक्ति से पूरी तरह सहमत न हों । इसके बदले, इस बात की ओर इंगित करते हुए कि धर्म दृष्टि एवं विज्ञान शक्ति प्रदान करता है, वे कह सकते हैं कि 'धर्म के बिना विज्ञान अन्धा है; तथा विज्ञान के बिना धर्म लंगड़ा है ।' यह बात छोड़ भी दें, तो भी आईन्स्टीन का यह स्पष्ट मत था कि धर्म और विज्ञान के बीच गहरे आदान-प्रदान का सम्बन्ध एवं परस्पर निर्भरता होनी चाहिए ।

यह स्पष्ट है कि विज्ञान लक्ष्य-निर्धारण, एवं उसे प्राप्त करने की प्रेरणा हममें नहीं जगा सकता । लेकिन धर्म द्वारा निर्धारित लक्ष्यों एवं प्रेरणाओं की सिद्धि के उपायों के बारे में धर्म, परोक्ष या अपरोक्ष रूप से विज्ञान से बहुत कुछ सीख सकता है । इस बात को बर्टेन्ड रसल स्पष्टरूप से कहते हैं:-- "विज्ञान यह बता सकता है कि अमुक लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जाय । लेकिन वह यह नहीं बता सकता कि उसे कौन सा लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए ।"[४]

विज्ञान एक बुलडोजर बना सकता है, लेकिन वह उसके चालक की भावनाओं को प्रशिक्षित नहीं कर सकता जिससे कि वह घुटनों के बल चलते एक बच्चे के

---

३. अल्बर्ट आइन्स्टीन, पृष्ठ २६ ।

४. बर्ट्रेन्ड रसल, Wisdom of the East, डबलडे एण्ड कंपनी, इंक, गार्डन सिटी, न्यूयार्क, १९५९, पृष्ठ ३१२ ।

सामने उसे रोक दे और उसके ऊपर से उसे न चला दे। दूसरी ओर, धर्म एक बुलडोजर नहीं बना सकता है, लेकिन चालक की भावनाओं को नियंत्रित कर सकता है कि वह उसे बच्चे के ऊपर न चलावे। हम बुलडोजर चाहते अवश्य हैं। हम निश्चिन्त भी होना चाहते हैं कि वह बच्चों को न कुचले। हम शक्ति एवं विवेकशीलता साथ-साथ चाहते हैं। और विज्ञान की शक्ति,—जो अन्धी शक्ति है—में विवेकशीलता अन्तर्निहित नहीं है। अतः इसे और कहीं से प्राप्त करना होगा। यह 'और कहीं' धर्म के अतिरिक्त और कहीं नहीं है।

तथाकथित 'विशुद्ध विज्ञान' के उपासकों द्वारा प्रस्तुत इस आशय के तर्कों की कमी नहीं है कि नैतिक उत्तरदायित्व विहीन कार्यकारी दक्षता, जिसका प्रतीक बुलडोजर है, वैज्ञानिक का मुख्य लक्ष्य है। सौभाग्य से ऐसे तर्क अल्पसंख्यक वैज्ञानिक ही प्रस्तुत करते हैं। लेकिन विश्व के सर्वकालिक महानतम वैज्ञानिकों में से एक के रूप में सर्वत्र समादृत, आईन्स्टीन का यह निश्चित मत है कि विज्ञान की सृष्टि ऐसे लोगों द्वारा ही सम्भव है जिनमें बुद्धिमत्ता एवं सत्यानुराग दोनों हैं। और इस भावना का स्रोत जो वैज्ञानिक चेतना के समीचीन विकास के लिए आवश्यक है धर्म के क्षेत्र में है। उन्हीं के शब्दों में—

"इस भावना में यह विश्वास भी निहित है कि जगत् के नियामक सिद्धान्त तर्क द्वारा समझे जा सकते हैं। ऐसे गहरे विश्वास से रहित सच्चे वैज्ञानिक की मैं कल्पना नहीं कर सकता।"[५]

५. अल्बर्ट आइन्स्टीन, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ २६।

इस प्रकार एक महान् वैज्ञानिक के प्रमाण के आधार पर हम देखते हैं कि सच्ची वैज्ञानिक गवेषणा के लिए भी विश्वास की कार्यकारी आधारशिला आवश्यक है। यह भी सर्वविदित है कि विश्वास आध्यात्मिक जीवन की नींव है। दूसरे शब्दों में, मानव में दो प्रकार के सत्यान्वेषण के लिए एक ही आधार चाहिए और वह है विश्वास। तब फिर एक ही व्यक्ति का आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक एक साथ होना असम्भव क्यों होगा ? यह सिद्धान्तमात्र नहीं है बल्कि यह स्वयं आईन्स्टीन के जीवन द्वारा प्रमाणित हुआ है। उनमें विज्ञान का प्राचुर्य और साधुता का प्राचुर्य जो कि आध्यात्मिकता का प्राण है एक साथ संतुलित एवं अत्यन्त सुन्दर रूप से सम्मिलित हुए थे।

**७. धर्म और विज्ञान के बीच आदान-प्रदान की आवश्यकता पर स्वामी विवेकानन्द का मत**

हमारे इस पर्यालोचन में अब दो समीचीन प्रश्न उठते हैं, जिन्हें स्वामी विवेकानन्द ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

"क्या धर्म को भी स्वयं को उस बुद्धि के आविष्कारों द्वारा सत्य प्रमाणित करना है जिसकी सहायता से अन्य सभी विज्ञान अपने को सत्य सिद्ध करते हैं ? बाह्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जिन अन्वेषण पद्धतियों का प्रयोग होता है, क्या उन्हें धर्म-विज्ञान के क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया जा सकता है।"

और स्वामीजी स्वयं आगे इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं :

"मेरा तो विचार है ऐसा अवश्य होना चाहिए। और मेरा अपना विश्वास भी यह है कि यह कार्य जितना

शीघ्र हो उतना ही अच्छा। यदि कोई धर्म इन अन्वेषणों से ध्वंसप्राप्त हो जाए तो वह सदा ही निरर्थक धर्म था—कोरे अन्धविश्वास का, एवं वह जितनी जल्दी दूर हो जाय उतना ही अच्छा। मेरी अपनी दृढ़ धारणा है कि ऐसे धर्म का लोप होना एक सर्वश्रेष्ठ घटना होगी। सारा मैल धुल जरूर जायगा, पर इस अनुसंधान के फलस्वरूप धर्म के शाश्वत तत्त्व विजयी होकर निकल आएँगे। वह केवल विज्ञान सम्मत ही नहीं होगा—कम से कम उतना ही वैज्ञानिक जितनी कि भौतिकी या रसायनशास्त्र की उपलब्धियाँ हैं—प्रत्युत और भी अधिक सशक्त हो उठेगा क्योंकि भौतिक या रसायनशास्त्र के पास अपने सत्यों को सिद्ध करने का अन्तः साक्ष्य नहीं है, जो धर्म को उपलब्ध है।"[६]

यहाँ हम इन महान आध्यात्मिक नेता से इस सत्य का स्पष्ट प्रतिपादन पाते हैं कि धर्म को वैज्ञानिक माप-दण्डों एवं कसौटी पर कसे जाने पर ही सच्ची धार्मिक भावना लाभान्वित होगी। विवेकानन्द के शब्दों में अभि-व्यक्त धर्म का यह उद्घोष दो कारणों से विशेष उत्साहवर्धक है। सर्वप्रथम इसमें धर्म का विज्ञान के प्रति सच्चा सम्मान प्रकट होता है, जो प्राच्य परम्परा में अज्ञात न होते हुए भी पाश्चात् देशों में बिरला ही पाया जाता है। द्वितीयतः यहाँ धर्म अपने अमरत्व में विश्वस्त हो सभी चुनौतियों का साहसपूर्वक सामना करने के लिए तत्पर दिखाई देता है।

विज्ञान एवं धर्म के इन दो महान नेताओं की सुविचारित सम्मतियों को एक साथ रखने पर, इस बात

६. विवेकानन्द साहित्य, द्वितीय खण्ड, १९७२, पृष्ठ २३८।

की कोई युक्तियुक्त शंका नहीं रह जाती है कि वैज्ञानिक प्रवृत्तिसम्पन्न होते हुए आध्यात्मिक हुआ जा सकता है। यह हमारे जीवन के इन दोनों पक्षों के लिए शुभकर होगा। बौद्धिक दृष्टि से भी इस सम्भावना के प्रति विश्वस्त होना बहुत लाभदायक होगा। क्योंकि मानव अस्तित्व से सम्बन्धित अनेक समस्याएँ आधुनिक मानव के समक्ष हैं, जिन्हें उसे सुलझाना है। यह विश्वास एक नई क्रियात्मक शक्ति का उत्स एवं आधार बन सकता है। इसकी सहायता से मानव वर्तमान एवं भविष्य की समस्याओं के साथ संघर्ष करने में जिस तरह समर्थ हो सकेगा वैसा वह पहले कभी नहीं हुआ था; क्योंकि तब उसका ज्ञान दो भागों में विभक्त था।

अनेक समस्याएँ हमारे समक्ष हैं। लेकिन उन्हें सुलझाने के अनेक उपाय भी हैं। आध्यात्मिक जगत में मानव की अनुभूतियाँ एवं बहुमूल्य उपलब्धियाँ हमारे पास हैं। और विज्ञान की आश्चर्यजनक खोजें भी हैं। लेकिन यह दुर्भाग्य ही है कि इन दो महान शक्तियों ने अब तक एक दूसरे को अविश्वास की दृष्टि से ही देखा है, तथा कई बार एक दूसरे से झगड़ा किया है जिससे मानव का अकल्याण ही हुआ है। लेकिन आज निश्चय ही ऐसा समय एवं ऐसी तात्कालिक आवश्यकता उपस्थित हो गयी है जब इन्हें मित्रता एवं सम्मानपूर्वक एक दूसरे के साथ पेश आना चाहिए; जिससे वे एक दूसरे से सीख सकें, एक दूसरे के सम्पर्क से लाभान्वित हो सकें. तथा एक दूसरे की शक्ति से बलीयान हो सकें। अन्यथा हम धर्म के साधनहीन ज्ञान अथवा विज्ञान की प्रेरणाहीन कुशलता से वर्तमान एवं भविष्य की

पेचीदी समस्याओं का समाधान नहीं कर पायेंगे।

यह एक कोरा बौद्धिक प्रश्न नहीं है जिसकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति का केवल सैद्धान्तिक महत्व हो। हम जिस बात की चर्चा कर रहे हैं, वह मानव के लिए जीवन-मरण का प्रश्न है। मानव को इसे सफलता पूर्वक करने का उपाय खोज निकालना होगा अन्यथा इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह जीवित नहीं रह पायेगा।

अत: वैज्ञानिक मनोवृत्ति से अत्यधिक प्रभावित आज के इसी 'काल प्रवाह' में ही कुछ करना होगा। यह वैज्ञानिक प्रभाव समस्याओं को सुलझाने के बदले अधिक समस्याएँ पैदा करता है। इसके स्थान पर इस मान्यता को प्रतिष्ठित करना होगा कि वैज्ञानिक होते हुए भी आध्यात्मिक हुआ जा सकता है। और यदि हम अपनी सभी समस्याओं के मूल कारणों को समझ लेते हैं तो हमारे लिए इससे अधिक आवश्यक और कोई बात नहीं हो सकती।

लेकिन यह मानना कि धर्म और विज्ञान का यह समझौता दोनों के कुछ अंशों के त्याग से सम्भव होगा, एक मँहगी भूल होगी। ऐसा करने से धर्म और विज्ञान दोनों की हानि होगी। और जो धर्म और विज्ञान अपने पूर्ण रूप में न हों वे हमारे लिये अधिक उपयोगी नहीं हो सकते। हम धर्म और विज्ञान दोनों को पूर्ण विकसित एवं ओजस्वी रूप में चाहते हैं। साथ ही इन दोनों के उपयोगी आदान-प्रदान के उपाय भी खोजना चाहते हैं।

किन उपायों के द्वारा यह सम्भव है ?

### ८. सच्चे वैज्ञानिक होने का अर्थ

इसके लिये हमें सच्चे वैज्ञानिक तथा सच्चे आध्यात्मिक होने का अर्थ यथासम्भव स्पष्ट रूप मे समझना

होगा । तदनन्तर केवल सैद्धान्तिक रूप से ही नहीं बल्कि व्यावहारिक रूप से भी दोनों को अपने अन्दर एक साथ मिलाने का उपाय खोजना होगा । यह आदर्श पूर्णतः कार्यान्वित किया जा सकता है क्योंकि मानव मन जो कि वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दोनों होने का यन्त्र है, में किसी प्रकार के विचार-बन्द खाने नहीं हैं । विज्ञ लोगों का कथन है कि आत्मा में विभक्त करने वाली दीवार अथवा परदे नहीं हैं ।

अब वैज्ञानिक होने का अर्थ क्या है ?

साधारणतः तथ्यों का अधिकतम पूर्णता के साथ, न्यूनतम शब्दों में वर्णन विज्ञान कहलाता है ।[७]' वैज्ञानिक होने के लिये हमें विज्ञान के लक्ष्य एवं उसकी कार्यविधि को स्वीकार करना होगा तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण या मनोवृत्ति का विकास करना होगा । वैज्ञानिक होने के लिये मन को कठोरता से प्रशिक्षित करना आवश्यक है ।

"विज्ञान का लक्ष्य अनुभव के सामान्य अवैयक्तिक तथ्यों को प्रमाणित करने योग्य भाषा में सर्वाधिक सरलता एवं पूर्णता के साथ यथार्थतः वर्णन करना है ।"[८]

---

७. भौतिक शास्त्र (और सामान्य रूप से विज्ञान) के कार्य का किरचोफ और मेक द्वारा दिया गया वृत्तान्तः, इरविन श्रोडिंजर द्वारा उनकी पुस्तक My views of the World में उद्धृत; केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, ३२, ईस्ट, ७५वाँ रास्ता, न्यूयार्क २२, एन. वाय. १९६४, पृष्ठ ३ ।

८. ८ संख्या वाले सभी उद्धरण जे. ए. टॉमसन कृत Introduction to Science, हेनरी होल्ट एण्ड कंपनी, न्यूयार्क; विलियम्स एण्ड नॉरगेट, लन्दन, १९११, से लिये गये हैं । "वैज्ञानिक होने का क्या अर्थ है" के अन्तर्गत बातों के कुछ अंश के लिये हम जे. ए. टॉमसन की पुस्तक के ऋणी हैं ।

विज्ञान के सभी निष्कर्ष प्रयोग द्वारा प्रामाण्य एवं तर्क संगत होने चाहिये। वे मानव की इच्छा अथवा भावना से प्रभावित नहीं होने चाहिये। विज्ञान का लक्ष्य वस्तुओं को जैसी वे हैं अथवा जैसी वे प्रतीत होती हैं, ठीक उसी तरह उनका वर्णन करना है। अतीन्द्रिय बातें विज्ञान के क्षेत्र में नहीं आतीं तथा वह तथ्यों की अन्तिम अथवा चरम व्याख्या भी नहीं करता। उसका सम्बन्ध आदि कारणों से नहीं बल्कि गौण कारणों से है। "वह सदा वस्तुओं के सामान्यीकरण के लिये प्रयत्नशील रहता है, एवं श्रेणियों एवं मदों को कम करना चाहता है।"[६] यह उचित ही कहा गया है कि 'प्रकृति के नियम' हमारे दैनन्दिन अनुभवों का वर्णन करने के सूत्र हैं। विज्ञान ईश्वर या चरम सत्य को जानने का दावा नहीं करता। वह अवैज्ञानिक हुए बिना यह नहीं कह सकता कि भगवान् नहीं है, तथा वैज्ञानिक होने के लिये यह कहना आवश्यक नहीं है कि ईश्वर है।

"वैज्ञानिक मनोवृत्ति तथ्यों के प्रति आग्रह, वर्णन में सतर्कता, सुस्पष्ट दृष्टि एवं वस्तुओं के परस्पर सम्बन्धित होने के भाव में विशेष रूप से परिलक्षित होती है।"[८]

"सतर्क निरीक्षण एवं प्रयोग ही प्रकृति की क्रियाओं को जानने का एकमात्र उपाय है।"[८]

"इसके बाद परिकल्पनाएँ की जा सकती हैं तथा सिद्धान्त बनाये जा सकते हैं जिनसे निर्णय लिये जाते हैं। इन निर्णयों को पुनः तथ्यों एवं प्रयोगों द्वारा परखा जाता है जिससे अन्त में ऐसे विश्वसनीय सिद्धान्त प्राप्त

हों जिनसे सभी देखे गये तथ्यों को समझाया जा सके। यह क्रमिक पद्धति वैज्ञानिक पद्धति कहलाती है।"[८]

"विज्ञान का मूलभूत सिद्धान्त प्रकृति की एक नियमानुवर्तिता है।"

गतिशीलता एवं विकास; पुनः प्रस्तुतिकरण की सम्भावना; एवं तर्कसंगतता——ये वैज्ञानिक पद्धति के प्रमुख मापदण्ड हैं। वस्तुनिष्ठता की ओर विज्ञान की तीव्र आसक्ति है।

वैज्ञानिक होने के लिए तथ्यों के प्रति सत्यनिष्ठा एवं वे जिस दिशा में ले जायें उस ओर खुले मन से बढ़ने की तत्परता आवश्यक है। गलत सिद्ध होने पर अपने प्रिय सिद्धान्त को बिना भावुकता के त्यागने, तथा सत्य प्रमाणित अन्य नये सिद्धान्त को स्वीकार करने में वैज्ञानिक को समर्थ होना चाहिये।

**९. सच्चे अर्थों में आध्यात्मिक होना क्या है?**

अब, आध्यात्मिक होने का क्या अर्थ है?

पारमार्थिक दृष्टि से आध्यात्मिकता का अर्थ उस ज्ञानालोक की स्थिति से है जो भगवद्दर्शन अथवा ब्रह्मा-त्मैकत्व-प्राप्ति के बाद होती है। सापेक्ष दृष्टि से ऐसा साधनामय जीवनयापन करना जो ईश्वर-साक्षात्कार अथवा स्वस्वरूपोपलब्धि करा कर मोक्ष-प्राप्ति में सहायक हो, आध्यात्मिक होना कहलाता है।

इस जीवन पद्धति में एक दैवी सत्ता—चाहे उसे कोई भी नाम क्यों न दिया जाय—को स्वीकार करना होता है, जो दृश्यमान जगत में ओतप्रोत एवं उसके आधार के रूप में विद्यमान है तथा जिसका मानव एक अंग है। इस सत्ता के साथ सम्बन्ध स्थापित कर शरीर एवं मन को

क्रियाओं को करने से व्यक्ति अधिकाधिक आध्यात्मिक होता जाता है।

यह कहा जा चुका है कि विज्ञान तथ्यों का अध्ययन करता है। लेकिन 'तथ्य' हैं क्या ? जो है तथा जो घटित हो रहा है उसे तथ्य कहा जा सकता है। लेकिन तथ्यों को जानने का उपाय क्या है ? मन के द्वारा परिचालित ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा हम तथ्यों को जानते हैं। क्या ऐसा भी कभी सम्भव है कि किसी सत्य को हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ जान न सकें ? हाँ यह सम्भव है। एक अन्धे व्यक्ति के लिये उसके सामने खड़े वृक्ष का अस्तित्व नहीं है। लेकिन वह जाने या न जाने, वृक्ष का अस्तित्व है। तात्पर्य यह कि विज्ञान में भी हम तथ्यों का अध्ययन नहीं करते बल्कि सत्य प्रतीत हो रही वस्तु के बारे में हमारी चेतना का अध्ययन करते हैं। मानव के सत्यान्वेषण में तथ्यों के साथ चेतना अभिन्न रूप से संयुक्त रहती है। यह अभिन्न चेतना अपने आपमें जीवन का एक महान् सत्य है। धर्म अपने सूक्ष्मतम रूप में इस चेतना का अध्ययन करता है। जीवन के एक छोर पर तथ्यों की चेतना है तो दूसरे छोर पर चेतना का सत्य है। प्रथम विज्ञान के और दूसरा धर्म के अध्ययन का विषय है।

सर आर्थर एडिंगटन जैसे किसी विद्वान् वैज्ञानिक में यदि तथ्यों की चेतना एवं चेतना का सत्य सम्मिलित हो जायें तो उसकी भाषा में कुछ विचित्रता आ जाती है, जैसे :

"सापेक्षतावाद के सिद्धान्त ने भौतिक शास्त्र के समस्त वस्तु-विषय की समीक्षा कर डाली है। उसने उन महान सिद्धान्तों का एकीकरण कर डाला है जिन्होंने

अपनी अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता एवं प्रयुक्ति की सुनिश्चितता द्वारा मानव के ज्ञान-भंडार में भौतिक विज्ञान को वह सम्मानजनक स्थान दिलाया है, जिस पर वह आज स्थित है। फिर भी वस्तुओं के स्वरूप के सम्बन्ध में यह ज्ञान एक खोखला छिलका मात्र है – एक संकेत मात्र है। यह केवल बनावट का ज्ञान है स्वरूप का नहीं। समग्र जड़ जगत् के भीतर एक अज्ञात सार तत्त्व है जो हमारी चेतना का सार होना चाहिये। इसमें भौतिक विज्ञान की जगत के गहरे पक्ष का संकेत निहित है, लेकिन जो भौतिक विज्ञान की प्रक्रिया द्वारा प्राप्य नहीं है। और हमने वह भी जाना है कि विज्ञान ने जहाँ जिस क्षेत्र में भी सबसे अधिक प्रगति की है, वहाँ मन ने प्रकृति से वही पाया है जो उसने प्रकृति में नियोग किया था।

"हमने अज्ञात के तट पर विचित्र चरण-चिह्न पाये हैं। हमने उनकी उत्पत्ति को समझाने के लिये एक के बाद एक दूसरे गम्भीर सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। आखिरकार हम उस प्राणी का पुनर्निर्माण करने में सफल हुये हैं जिसके ये चरणचिह्न हैं और लीजिये वे हमारे ही चरण चिह्न हैं।"[९]

यदि वैज्ञानिक होने का अर्थ तथ्यों का अध्ययन है, तो आध्यात्मिक होना भी दूसरे प्रकार से सत्य से सम्बन्ध रखना है। आध्यात्मिकता केवल सिद्धान्त प्रतिपादन मात्र नहीं है। वह अनुभूति तथा दर्शन में निहित है।

९. दृष्टव्य : सर आर्थर एडिंगटन; Space, Time and Gravitation; द केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, बेन्टले हाऊस लन्दन; एन. डब्ल्यू. आई. १९५३, पृष्ठ २००-१।

किसका दर्शन ? उसका दर्शन करना 'जो है'। और जब व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार करता है, तो यह दर्शन वैज्ञानिक अनुभव से भिन्न एक व्यक्तिगत अनुभव होते हुए भी निजी नहीं होता। ऐसा सत्य पूर्वानुमेय एवं दूसरों के व्यक्तिगत अनुभवों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।

पतंजलि ने अपने योग सूत्रों में तथा नारद ने भक्ति सूत्रों में जिन साधनाओं द्वारा विभिन्न अवस्थाओं से होकर जो अनुभूतियाँ प्राप्त हो सकती हैं, उनका सुस्पष्ट एवं यथायथ वर्णन किया है। अद्वैत वेदान्त विषयक पुस्तक 'वेदान्त सार' में आत्मा की अनुभूति के लिये साधनचतुष्टय का उल्लेख है। बुद्ध ने अपनी साधनाओं को अष्टांग मार्ग के रूप में लिपिबद्ध किया है तथा यह स्पष्ट रूप से बताया है कि किन अवस्थाओं से होते हुए व्यक्ति निर्वाण लाभ कर सकता है। अगर साधना उसके अनुरूप की जाय तो अनुभूतियाँ भी वैसी ही प्राप्त होंगी।[१०]

धर्म की शिक्षा की यदि यह पद्धति अपनाई जाये तो धर्म भी उतने ही दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित हो जायेगा जिस पर विज्ञान है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं :—

"अनुभव ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत है। विश्व में केवल धर्म ही ऐसा विज्ञान है जिसमें निश्चयत्व का अभाव है, क्योंकि अनुभव पर आश्रित विज्ञान के रूप में उसकी शिक्षा नहीं दी जाती। ऐसा नहीं होना चाहिये।

---

१०. इस कथन के प्रमाण स्वरूप भारतीय साहित्य में प्रचुर सामग्री विद्यमान है। लेकिन इस पेराग्राफ में लिखे ग्रन्थों का अवलोकन धारणा दृढ़ करने के लिये पर्याप्त होगा।

परन्तु कुछ ऐसे लोगों का एक छोटा समूह भी सर्वदा विद्यमान रहता है, जो धर्म की शिक्षा अनुभव के माध्यम से देते हैं। ये लोग रहस्यवादी कहलाते हैं और वे हरेक धर्म में, एक ही वाणी बोलते हैं और एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं। यही धर्म का यथार्थ विज्ञान है। जैसे गणित शास्त्र विश्व के किसी भी भाग में भिन्न-भिन्न नहीं होता उसी प्रकार रहस्यवाद भी एक दूसरे से विभिन्न नहीं होते। वे सभी एक ही प्रकार के होते हैं तथा उनकी स्थिति भी एक ही होती है। उन लोगों का अनुभव एक ही है और यही अनुभव धर्म का रूप धारण कर लेता है।...

"धर्म तात्त्विक (आध्यात्मिक) जगत् के सत्यों से उसी प्रकार सम्बन्धित है, जिस प्रकार रसायन शास्त्र तथा दूसरे भौतिक विज्ञान भौतिक जगत् के सत्यों से। रसायन शास्त्र पढ़ने के लिये प्रकृति की पुस्तक पढ़ने की आवश्यकता है। धर्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिये तुम्हारी पुस्तक अपनी बुद्धि तथा हृदय है। सन्त लोग प्रायः भौतिक विज्ञान से अनभिज्ञ ही रहते हैं क्योंकि वे एक भिन्न पुस्तक अर्थात् आन्तरिक पुस्तक पढ़ा करते हैं; और वैज्ञानिक लोग भी प्रायः धर्म के विषय में अनभिज्ञ ही रहते हैं क्योंकि वे भी भिन्न पुस्तक अर्थात् बाह्य पुस्तक पढ़ने वाले हैं।"[११]

## १०. वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक अनुशासनों में अन्तर एवं उनके निकट आने की सम्भावनाएँ

वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक नियमावलियों में कुछ

---

११. विवेकानन्द साहित्य : द्वितीय खण्ड १९७२, पृष्ठ २५१।

महत्त्वपूर्ण अन्तर है। वैज्ञानिक होने के लिये तीक्ष्ण बुद्धि एवं वैज्ञानिक पद्धति का पालन पर्याप्त है। अनैतिक होते हुए भी वैज्ञानिक होना तात्त्विक दृष्टि से सम्भव है। लेकिन अनैतिकता के साथ आध्यात्मिक होना असम्भव है। वैज्ञानिक को अपना कार्य करने के लिये मन को वस्तु-विषय से अवगत कराना होता है; जबकि आध्यात्मिक व्यक्ति को अपने समग्र व्यक्तित्व का परिवर्तन करना होता है। यही महान् अन्तर है।

इस अन्तर का कारण यह है कि विज्ञान का कार्यक्षेत्र देश, काल एवं कार्य-कारण के अन्तर्गत है जबकि धर्म का सम्बन्ध इनके परे की वस्तु से है। देश, काल एवं कार्यकारण के परे का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें इनकी सीमाओं का अतिक्रमण करना होगा। यह कैसे होगा ? यहीं नैतिकता का महत्त्व है, जिसका अर्थ मन एवं इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त करना है। वैज्ञानिक गवेषणाओं के लिये यह अतिक्रमण अनिवार्य नहीं है। फिर भी समान योग्यता एवं परिस्थितियों में अधिक संयमी वैज्ञानिक श्रेष्ठतर वैज्ञानिक निश्चय ही सिद्ध होगा।

नैतिकता में प्रतिष्ठित व्यक्ति में एक नई बौद्धिक क्षमता का विकास होता है जो उसे देश काल एवं कार्य-कारण के परे की वस्तुओं को जानने एवं देखने में समर्थ बनाती है। योगशास्त्र में अतीन्द्रिय जगत का ज्ञान प्राप्त करने की प्रणाली का सुस्पष्ट वर्णन है। एक दक्ष वैज्ञानिक भी नैतिकता में प्रतिष्ठित हो देशकालातीत जगत् के रहस्यों को भेद सकता है। अतीन्द्रिय जगत् का ज्ञान प्राप्त करने के बाद देश-काल एवं कार्य-कारण

बद्ध जगत् का अध्ययन करने पर एक वैज्ञानिक ऋषि यह अनुभव करेगा कि अतीन्द्रिय ज्ञान के बिना दृश्यमान जगत् को पूरी तरह समझना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार घर के बाहर गये बिना उस घर का महत्व आँकना जिसमें हम रहते हैं।

विज्ञान वर्णनात्मक है और अन्तिम या चरम व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। धर्म रहस्यवादी तथा व्याख्या परक है और इन्द्रिय-गम्य जगत के परे की अनुभूतियों की ओर लक्ष्य करता है। विज्ञान एवं धर्म के कार्यक्षेत्र पृथक होने के कारण दोनों में संघर्ष नहीं होना चाहिये। तो फिर धर्म और विज्ञान के बीच झगड़ों की इतनी बात क्यों होती है ? धर्म और विज्ञान के बीच के समस्त झगड़े परिहार्य कारणों से उत्पन्न होते हैं,[१२] जैसे—

(क) धार्मिक आस्थाओं की कुछ अभिव्यक्तियों का विज्ञान के तथ्यों से विरोध।

(ख) धार्मिक भावना और वैज्ञानिक सिद्धान्त विशेष का संघर्ष।

(ग) एक ही कथन में विज्ञान और धर्म की मान्यताओं को मिलाने का प्रयत्न; या

(घ) मनोवैज्ञानिक गवेषणा को धार्मिक अनुभूतियों पर घटाने का प्रयत्न।

धर्म और विज्ञान के बीच होने वाले सभी संघर्षों का विश्लेषण करने पर पता चलेगा कि उनकी उत्पत्ति गलतफहमी तथा दो अतुलनीय वस्तुओं के व्यर्थ के विरोध के कारण होती है। धर्म और विज्ञान के संघर्ष को रोकने

१२. दृष्टव्य : जे. ए. टॉमसन : पूर्वोल्लेखित पृष्ठ २२२,२२३।

का एकमात्र उपाय सही अर्थों में वैज्ञानिक और सही अर्थों में आध्यात्मिक होना है। सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टि से यथार्थतः वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक एक साथ होना पूर्णतः सम्भव है। वस्तुतः जगत् के पूर्णतर ज्ञान के लिये ज्ञान की इन दो शाखाओं का व्यक्तिगत जीवन में अधिकाधिक एवं निकटतम आदान-प्रदान एवं सहयोग आवश्यक है।

एक सच्चा वैज्ञानिक मस्तिष्क किसी भी स्तर के तथ्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता। ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के सभी प्रमाणित सत्यों को उस स्वीकार करना चाहिये। आध्यात्मिक अनुभूतियों का विशाल भण्डार वैज्ञानिक मन के लिये एक चुनौती है क्योंकि इसका अध्ययन किए बिना सत्य की सम्पूर्ण धारणा नहीं की जा सकती। दूसरी ओर सच्चा आध्यात्मिक अन्वेषक अपने मन को किसी प्रकार के सत्य के प्रति बन्द नहीं रख सकता, विशेषकर जब वह विज्ञान जैसे प्रमाणित स्रोत से प्राप्त हुआ है। अतः एक ही जीवन में पूर्ण विकसित विज्ञान एवं पूर्ण विकसित धर्म के प्रभावशाली आदान-प्रदान के फलस्वरूप विज्ञान ज्ञान प्रदान करेगा और धर्म जीवन में परिवर्तन लायेगा। विज्ञान के अध्ययन से बुद्धि तीक्ष्ण होगी और आध्यात्मिक साधना से चित्त शुद्ध होगा।

जिस सच्चे आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए ईश्वर कल्पना का विषय मात्र न होकर चरम सत्य एवं अनुभूति का विषय है, उसके लिये विज्ञान द्वारा समय-समय पर प्रमाणित अथवा अप्रमाणित किये जा रहे तथ्य भगवान की महिमा के अधिकाधिक प्रकाशक ही

होते हैं। उसके लिये विज्ञान एक प्रबल शत्रु के हाथ का अस्त्र, जैसा कुछ तथाकथित धार्मिक व्यक्ति समझते हैं, न होकर एक सह-पुजारी का रोचक एवं जटिल क्रियाकलाप है। विज्ञान को असीम के प्रति ससीम की एक प्रकार की प्रतिक्रिया और धर्म को दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। कुछ प्रयास द्वारा एक ही व्यक्ति इन दोनों प्रकार की प्रतिक्रियाओं का विकास कर सकता है।

भारत में शायद ही कभी यह सुनने में आया हो कि किसी वैज्ञानिक ने अपने को नास्तिक घोषित कर दिया है। ऐसे अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिक हो गये हैं जो गहरी आध्यात्मिकता सम्पन्न भी थे। और ऐसे ही न जाने कितने अज्ञात भी रहे हैं।

प्रमुख स्मरणीय बात यह है कि इस जगत् में खुली हुई तीक्ष्ण आँखों से देखने लायक तथा बंद स्पष्ट दृष्टि से भी देखने लायक अनेक वस्तुएँ हैं। बुद्धि तथा इन्द्रियों की सहायता से वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होता है, लेकिन आध्यात्मिक ज्ञान की बात अलग है। उपनिषदों में कहा गया है:—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

—अर्थात् "जब पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि शान्त हो जाते हैं, एवं बुद्धि कार्य नहीं करती वह परम गति कहलाती है।"[१३]

यही कारण है कि वैज्ञानिक ज्ञान में आध्यात्मिक

१३. कठोपनिषद् २/३/१०

ज्ञान अन्तर्निहित नहीं है। इस कथन का यह अर्थ नहीं कि ये दो प्रकार की साधनाएँ एक दूसरे की विरोधी या एक दूसरे से असंबद्ध हैं। प्रयोगशाला में सूक्ष्म गवेषणाएँ एवं घर पर गहरा ध्यान, विवेक-विचार एवं आत्म निरीक्षण, एक ही व्यक्ति इन दोनों को आसानी से कर सकता है।

एक दिशा में प्रशिक्षित मन दूसरी दिशा में भी सहायक हो सकता है। अपने तथा जगत् के पूर्णतर ज्ञान के लिये हम सभी को इन दोनों प्रकार की साधनाओं का अपने प्रत्येक के जीवन में अभ्यास करना चाहिये। इस सत्य के महत्त्व को पूरी तरह हृदयंगम कर अपने व्यक्तिगत जीवन में इसका कुछ न कुछ अभ्यास करने पर ही हम विज्ञान द्वारा अत्यधिक प्रभावित वर्तमान काल प्रवाह में आवश्यक परिवर्तन ला सकते हैं।

### ११. काल प्रवाह में विज्ञान के अनुचित प्रभाव को रोकने की आवश्यकता

काल प्रवाह में सुसंगत परिवर्तन लाने के लक्ष्य को प्राप्त करना ऐसा आसान कार्य नहीं है जो इने-गिने मुट्ठी भर उत्साही लोगों द्वारा चन्द दिनों में किया जा सके। यह कार्य लाखों लोगों के युग-युगान्तर तक किये गये साग्रह एवं निष्ठापूर्ण प्रयास द्वारा ही सम्भव है। इसके लिये हमारी शिक्षा पद्धति को पुनर्गठित करना होगा जिससे मानव के विचारों आदर्शों एवं कार्यों को नई दिशा प्रदान की जा सके।

हमें याद रखना चाहिये कि हम आज एक ऐसे सिमटते संसार में रह रहे हैं जिसकी साधन सामग्रियाँ कम होती जा रही हैं तथा जिसके चारों ओर खुला

अखण्ड आकाश है। एक ओर हमारा भौतिक अस्तित्व परमाणु-ऊर्जा पर निर्भर होगा और दूसरी ओर हमें आत्मबुद्धि के विकास द्वारा आध्यात्मिक प्रगति करनी होगी। जिसे वैज्ञानिक की सनक अथवा सन्त का पागलपन माना जाता था, वही साधारण मानव के स्वस्थ अस्तित्व के लिये अब अनिवार्य हो गया है। आज प्रत्येक सामान्य मानव को महान् बनना होगा। अन्यथा वह अपने ज्ञान एवं असफलता की सूली पर विद्ध हो जायेगा।

हमें यह अनुभव करना चाहिए कि इस कार्य में हम सभी का चरम स्वार्थ निहित है। हम इसे किसी दूसरे पर नहीं छोड़ सकते। हम अपने कार्य के फल को प्रसवित होते न देख सकें, अथवा उसका लाभ न उठा सकें, तो भी यदि विश्व में कार्यरत शक्तियों को यदि हम भलीभाँति समझ सकें, तो हमें चुपचाप इस आदर्श के लिये कार्य करना होगा। इसके लिए सर्वप्रथम इस में कार्यरत शक्तियों से परिचित होना होगा। यदि हम उन्हें लाभदायक पायें तो उनमें हाथ बटाना होगा।

काल प्रवाह के वैज्ञानिक चेतना द्वारा प्रभावित होने पर भी; धर्मविज्ञान द्वारा सदियों तक कटुता एवं हठपूर्वक विज्ञान के विरुद्ध संघर्ष जारी रखने पर भी; कुछ वैज्ञानिकों द्वारा[१४] सभी आध्यात्मिक अनुभवों को अधूरी अस्पष्ट मूर्खता मानकर उसे विज्ञान के यथार्थ ज्ञान

१४. दृष्टव्य : जॉन लेंगडन डेवियस, Man and His Universe (द थिंकर्स लायब्रेरी नं. ६१) वाट्स एण्ड को., ५ और ६, जॉनसन्स कोर्ट, फ्लीट स्ट्रीट, ई.सी. ४, लन्दन, १९५०, पृष्ठ १४-१५।

रूपी झाड़ू द्वारा साफ किए जाने योग्य करार देने पर भी; मानव के क्रियाकलापों में कुछ अन्य सत्य एवं शक्तियाँ निश्चित रूप से कार्य कर रही हैं—भले ही वह धीरे-धीरे क्यों न हो।

विज्ञान के क्षेत्र में जहाँ तक मौलिक वैज्ञानिक चिंतन का प्रश्न है, संयम एवं धैर्य की शक्तियाँ भी कार्य कर रही हैं।

विज्ञान की सीमाओं एवं धर्म और विज्ञान के बीच आदान प्रदान की आवश्यकता सम्बन्धी आईन्स्टीन के विचार एक एकाकी आदर्शवादी की बधिरों की झुण्ड में व्यर्थ की पुकार मात्र नहीं है। वे वैचारिक जगत के एक प्रगतिशील समुदाय में घर कर रही घटनाओं का संकेत हैं। वैज्ञानिक चिन्तन के विकास के एक इतिहासकार ने [१५] कुछ तथ्य प्रस्तुत किए हैं जिनके आधार पर

"अत: मानव के हजारों वर्षों के आध्यात्मिक एवं काल्पनिक अनुभवों का सारा महाकाव्य सत्य के स्पष्ट पृष्ठों द्वारा ही भरा हुआ नहीं है; बल्कि पास-पास लिखे, परस्पर विरोधी, अस्पष्ट, मूर्खतापूर्ण, काट-छाँट से भरपूर उन पृष्ठों से भी भरा है, जो मिटा दिये गये हैं।

और हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि हमारी कहानी की इस प्रारम्भिक अवस्था में ही इस कार्य को करने की इच्छा वैज्ञानिक कहलाने वाली कल्पना से ही प्राप्त होती है। हमें यह समझना चाहिये कि वैज्ञानिक, मानव मन से उन भ्रान्त विचारों को दूर करने वाला अपमार्जक है, जिन विचारों के फलस्वरूप कपि-मानव के युग से असंख्य दुःख एवं क्रूरताएँ होते रहे हैं।"

१५. सर विलियम सेसिल डेम्पीयर, A History of Science and its Relation with Philosophy and Religion, , केम्ब्रिज; युनिवर्सिटी प्रेस से; न्यूयार्क; द मेकमिलन कंपनी; १९४३, दृष्टव्य प्रस्तावना और आमुख।

इस आशावादी सम्भावना को बल मिलता है कि अन्ततः विज्ञान के क्षेत्र में विवेकशीलता का प्राधान्य होगा।

(क) अधिकांश वैज्ञानिक जो अपने भोलेपन में यह मान बैठे थे कि वे चरम सत्य का अन्वेषण कर रहे हैं, अपने कार्य के वास्तविक स्वरूप को स्पष्टतर रूप से समझने लगे हैं।

(ख) वे अनुभव करने लगे हैं कि वे चरम सत्य का अन्वेषण कर ही नहीं रहे हैं।

(ग) भौतिकीय विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त, सत्य के एक पक्ष की गणितीय व्याख्या एवं वैज्ञानिकों की मस्तिष्क-प्रसूत कल्पना के सिवाय अधिक कुछ नहीं है।

(घ) सत्य के अध्ययन में विज्ञान की ऐसी असमर्थता के बावजूद वैज्ञानिक अध्ययन ने हमें ऐसे विश्वसनीय तथ्य प्रदान किए हैं जो सत्य के तात्त्विक विवेचन के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं।

(च) विज्ञान में ऐसे महान क्षण उपस्थित होते हैं जब पहेलियाँ अचानक सुलझ जाती हैं; भिन्न एवं असम्बद्ध सिद्धान्त किसी अति तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा सुसम्बद्ध कर दिए जाते हैं; तथा महत् सत्यों के हठात् दर्शन से न्यूटन के सृष्टिशास्त्र, मेक्सवेल के प्रकाश एवं विद्युत् सम्बन्धी सिद्धान्त, या आईन्स्टीन के गुरुत्वाकर्षण का देश-काल के गुणविशेष के रूप में समावेश, जैसे महान् समन्वयात्मक सिद्धान्तों का जन्म होता है।

(छ) वैज्ञानिक जगत् में यह आशा की जाती है कि निम्नतर समन्वयों के बीच से एक महत्तर समन्वय

उभरेगा । सन् १९४३ में विज्ञान के इतिहासकार ने कल्पना की थी : "सभी संकेत ऐसे ही दूसरे समन्वय की ओर इंगित करते हैं जिस एक मूल-भूत सिद्धान्तों में सापेक्षतावाद, क्वान्टमवाद तथा तरंग-नियम सम्मिलित हो जाएँगे ।"[१६]

यह स्वप्न अभी तक साकार नहीं हुआ है, और कब होगा यह भी नहीं कहा जा सकता ।

ऐसे क्षणों के उपस्थित होने पर विज्ञान सर्वेमर्वा प्रतीत होता है । ज्यों-ज्यों विज्ञान एक चरम क्षण से दूसरे की ओर बढता है, त्यों त्यों उसका अर्थ और साथ ही उसकी शक्ति और कमजोरी स्पष्टतर होती जाती हैं । इस तरह आधुनिक विज्ञान यह देखने एवं स्वीकार करने में समर्थ हुआ है कि:—

"विज्ञान अपने स्वरूप में एवं अपनी मूलभूत परि-भाषाओं में सूक्ष्मीकरण मात्र है । वह अपनी सारी चिरवर्धमान शक्ति के बावजूद समग्र अस्तित्व का प्रति-निधित्व नहीं करता । विज्ञान अपने सहज लब्ध क्षेत्र का अतिक्रमण कर सकता है, तथा कुछ अन्य समकालीन विचार पद्धतियों की तथा धर्म शास्त्रों में विश्वास व्यक्त करने वाले मतवादों की, उपयोगी आलोचना कर सकता है । लेकिन जीवन का सम्पूर्ण एवं सुस्थिर दर्शन प्राप्त करने के लिए केवल विज्ञान ही नहीं बल्कि नीतिशास्त्र कला एवं दर्शनशास्त्र की भी आवश्यकता है। हमें ईश्वरीय रहस्य की झलक एवं परमात्मा के साथ सम्पर्क के भाव की भी आवश्यकता है जो धर्म का मूल आधार है ।"[१७]

---

१६. वही, प्रस्तावना, पृष्ठ २३
१७. वही, पृष्ठ २३

एक प्रशिक्षित विद्याव्यसनी की यह उक्ति अधिकाधिक वैज्ञानिकों में हो रहे एक नए अनुभव की प्रमाण-स्वरूप है जो यह मानने लगे हैं कि 'जगत् की समग्र सत्ता इतनी महान् है कि उसका रहस्य एक पक्ष विशेष के अध्ययन मात्र से जाना नहीं जा सकता।" [१८] वैज्ञानिक एवं साथ ही आध्यात्मिक होने की सम्भावना के हमारे प्रकृत विषय में यह कथन सहायक है।

यह पुनः याद दिला दें कि विज्ञान के सिद्धान्तों के प्रति वफादार होने के लिए वैज्ञानिक किसी भी दिशा से प्राप्त तथ्यों अथवा आँकड़ों को अस्वीकार नहीं कर सकता। ये आँकड़े किसी अध्ययन की एक शास्त्र-विशेष के हों अथवा उस अस्तित्व के मूलभूत सत्य से सम्बन्धित हों। अन्तिम समीक्षा में उसके साथ सभी तथ्यों का सामंजस्य स्थापित करना होगा। अतः विज्ञान को अपने प्रति ईमानदार होने के लिए धार्मिक क्षेत्र से प्राप्त तथ्यों का आदरपूर्वक अध्ययन करना होगा।

卐

१८. वही; पृष्ठ १७

# सुभाषचन्द्र बोस के प्रेरणा-पुरुष : श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द (३)

*स्वामी विदेहात्मानन्द*

(रामकृष्ण मठ, नागपुर-४४००१२)

सुभाष के सहसा घर लौट आने पर सभी लोग बड़े आनन्दित हुए। उन्हें पता चला कि उनके इस प्रकार गायब हो जाने पर उनके लिए वैद्यनाथ और बेलुड़ मठ में जाकर पूछताछ की गई थी, रामकृष्ण मिशन हरिद्वार को तार भेजा गया था, पर इस सबका कोई भी फल नहीं निकला था। घर में आते ही उन्हें टायफायड हो गया, शारीरिक दुर्बलता का अनुभव होने लगा और इस कारण वे पढ़ाई-लिखाई में थोड़ा पिछड़ गये।

इसी काल में ३ अक्टूबर १९१४ ई. को एक पत्र में उन्होंने अपने आराध्य देव श्रीरामकृष्ण का एक बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है——"सबसे बड़ा दान हृदय-दान है।...दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर का एक चित्र स्मरण में आता है। कमलासन पर विराजने वाली माँ काली खड्ग हाथ में लिये शिव के आसन पर खड़ी हैं। उनके आगे एक बालक है। बालक स्वभाववश अस्पष्ट वाणी में रोता हुआ ऐसा प्रतीत होता है मानो कह रहा हो——माँ, यह लो अपना भला-बुरा। यह लो अपना पाप, और यह लो अपना पुण्य। विकराल मुखवाली, भयंकर दाँतों वाली माँ काली थोड़े में सन्तुष्ट नहीं होतीं इसलिए सबका भक्षण करना चाहती हैं, पुण्य भी चाहती हैं और पाप भी चाहती हैं। बालक को सब कुछ देना पड़ेगा।... बहुत कष्ट हो रहा है। माँ को सर्वस्व देना पड़ेगा। माँ किसी भी प्रकार सन्तुष्ट नहीं होती। इसलिए बालक

रोता है और रोते हुए कहता है—यह लो, यह लो। अश्रुधार बन्द हो गयी, कपोल और वक्ष सूख गये, हृदय की तपन शान्त हो गयी। जहाँ बहुत-से काँटों की चुभन जैसी पीड़ा होती थी, अब वहाँ उसका चिह्न तक शेष नहीं है। अमृत से मानो हृदय परिपूर्ण हो गया। बालक उठ कर खड़ा हो गया, अब उसके पास अपना कहने को कुछ भी नहीं बचा। उसने सर्वस्व दे दिया माँ को। वही बालक रामकृष्ण है।"[५]

इसके एक वर्ष बाद तक भी उनका स्वास्थ्य सुधरा नहीं था। २० सितम्बर १९१५ को वे लिखते हैं—"शारीरिक स्थिति को देखकर तो विश्वास नहीं होता कि जीवन में मैं कुछ कर भी सकूँगा। विवेकानन्द की सभी बातें सत्य हैं : 'लोहे के समान सुदृढ़ नाड़ियाँ और श्रेष्ठ प्रतिभाशाली मस्तिष्क यदि तुम्हारे पास है तो सम्पूर्ण विश्व तुम्हारे चरणों में झुकेगा।"[६]

इस काल तक भी हम देखते हैं कि वे अपने भावी जीवन का कार्यक्रम निश्चित नहीं कर पाये हैं, मन में द्वन्द्व चल रहा है—साधना में डूब जाऊँ या कर्म की धारा में जीवन को बहा दूँ। ३ अक्टूबर १९१५ को वे लिखते हैं—"एक ओर ब्रह्मानन्द की बात स्मरण हो आती है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य आदर्श, जो कर्मठता को ही जीवन मानता है। एक ओर मौन और शान्तिपूर्ण जीवन, एक आत्मदर्शी योगी जिसने जगत् की असारता का अनुभव कर लिया है; और दूसरी ओर पश्चिमवालों

५. पत्रावली, प. ३३-३४।

६. वही, पृ. ४१।

की विशाल प्रयोगशालाएँ, उनका विज्ञान, दर्शन, उनके द्वारा आविष्कृत और प्रकट की गयी अद्भुत ज्ञानराशि ।"[७]

८ दिसम्बर को उन्होंने विश्वविद्यालय में सर जगदीशचन्द्र बोस का एक व्याख्यान सुना । उस समय भी उन्हें स्वामीजी की याद आई । वे लिखते हैं —"न जाने क्यों बचपन से ही विवेकानन्द और जगदीशचन्द्र दोनों पर अटूट श्रद्धा है । उनके चित्र देखकर तथा उनके सम्बन्ध में दो-चार किम्वदन्तियाँ सुनकर उनकी ओर बहुत आकृष्ट हुआ था ।" फिर उसी पत्र में उन्होंने लिखा—"मेरी धारणा है कि सुधार के लिए पवित्र सिद्धान्तों का पालन करनेवाले युवकों के एक संगठन की आवश्यकता है । देशवासियों की आँखें खोल देनी चाहिए । वास्तव में रामकृष्ण ने चरित्र को जातीय जीवन का मूल माना है ।"[८]

इन्हीं दिनों सुभाष के जीवन में एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटना हुई, जिसने उनको एक सच्चे युवानेता के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया । प्रो. ओटन प्रेसीडेंसी कालेज में इतिहास के प्राध्यापक तथा 'भारतीय शिक्षा सेवा' के सदस्य थे । वे एक बड़े अहंकारी और कट्टर अँगरेज थे । उन्होंने किन्हीं छोटी-मोटी बातों को लेकर कई छात्रों का अपमान किया और अपशब्द कहे । इस पर छात्रों ने सुभाष के नेतृत्व में यह माँग की कि वे अपने इस दुर्व्यवहार के लिए क्षमा याचना करें; और सीधी

७. वही, पृष्ठ ४६ ।

८. वही, पृ. ५२-५३ ।

उँगली से घी न निकलता देख उन्होंने हड़ताल की घोषणा कर दी। हड़ताल सफल हुई, समझौता हुआ, कालेज फिर खुला, पर प्रो. ओटन के व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आया। अतः और कोई चारा न देख एक दिन कुछ छात्रों ने मिलकर प्रोफेसर की अच्छी पिटाई की। यद्यपि सुभाष ने उन पर बिल्कुल भी आघात नहीं किया था तो भी छात्रनेता होने की वजह से एकमात्र उन्हीं को निलम्बित किया गया। वे कटक लौटकर समाज-सेवा के कार्य में लग गये तथा अपने कुछ मित्रों के साथ ग्रामीण अंचल में जाकर हैजे और चेचक से आक्रान्त लोगों की चिकित्सा एवं देखभाल करने लगे।

इस प्रकार दो वर्ष पढ़ाई स्थगित रखने के बाद कहीं उन्हें पुनः विश्वविद्यालय से अध्ययन जारी रखने की अनुमति प्राप्त हुई। १९१७ ई. की जुलाई में उन्होंने स्काटिश चर्च कालेज में बी. ए. तृतीय वर्ष के लिए प्रवेश लिया। इन्हीं दिनों उन्होंने सेना की विश्वविद्यालय-यूनिट में भर्ती होकर सैन्य शिक्षा भी प्राप्त की। दर्शनशास्त्र लेकर बी.ए. पास कर लेने के पश्चात् वे प्रायोगिक मनोविज्ञान विषय में एम. ए. करने की सोच रहे थे, तभी अचानक एक दिन उनके पिता ने उनके समक्ष इंग्लैंड जाकर आई.सी.एस. (भारतीय राजकीय सेवा) की पढ़ाई करने का प्रस्ताव रखा। १५ सितम्बर १९१९ ई. को उन्होंने जलयान से इंग्लैंड के लिए प्रस्थान किया।

वहाँ पहुँचकर वे गम्भीरतापूर्वक परीक्षा की तैयारी में जुट गये। दस महीनों के भीतर ही उन्हें इस कठिन परीक्षा में बैठना था, तो भी, इन व्यस्तता के दिनों में भी, अपने जीवन का लक्ष्य उन्हें कभी विस्मृत नहीं हुआ।

२३ मार्च १९२० को कैम्ब्रिज से वे अपने एक मित्र और सहपाठी चारुचन्द्र गांगुली को लिखते हैं —"यहाँ आकर और यहाँ के लोगों तथा उनकी कार्यप्रणाली को देखकर मैं अनुमान करता हूँ कि हमारे देश में दो चीजें बहुत आवश्यक हैं — (१) जन साधारण में शिक्षा का प्रसार और (२) श्रमिक आन्दोलन। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि भारत की उन्नति किसान, धोबी, मोची और मेहतरों से ही होगी। पाश्चात्य जगत् ने यह दिखा दिया है कि 'जनशक्ति' क्या कर सकती है।... यदि कभी भारत की प्रगति हुई तो वह जनशक्ति के द्वारा ही होगी।... स्वामी विवेकानन्द 'वर्तमान भारत' में कह गये हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों के आधिपत्य के दिन बीत चुके। पाश्चात्य जगत् में वैश्य वर्ण में आते हैं पूँजीपति और उद्योगपति। मजदूर दल के शक्तिशाली होते ही उनका समय भी समाप्त होने वाला है। भारत के शूद्र और अछूत जाति के लोगों ने इतने दिन केवल कष्ट भोगा है। इन्हीं के त्याग और शक्ति से भारत की उन्नति होगी। इसलिए अब हमें जन-शिक्षा और श्रमिक संगठन का प्रयास करना चाहिए।"[९]

जुलाई १९२० में वे इस राजकीय सेवा की प्रतियोगिता में बैठे। वे परचे सन्तोषजनक रूप से हल नहीं कर पाए थे तथापि अप्रत्याशित रूप से उन्हें चौथा स्थान मिला। परन्तु सरकारी नौकरी करना उन्हें मंजूर नहीं था। २२ अप्रैल १९२१ ई. को उन्होंने इससे त्यागपत्र दे दिया। तब अपने भावी जीवन के कार्यक्रम

९. वही, पृ. ७४-७५।

के बारे में उनके मन में तरह तरह के विचार उठ रहे थे। ऐसी ही मन:स्थिति में उन्होंने उसी दिन अपने मित्र चारुचन्द्र गांगुली को लिखा—"अभी तक निर्णय नहीं कर सका हूँ कि क्या करना चाहिए। एक इच्छा होती है कि रामकृष्ण मिशन में प्रवेश लेलूँ। कभी मन करता है कि बोलपुर चला जाऊँ, फिर इच्छा होती है कि संवाद-दाता बनूँ। देखता हूँ कि क्या होता है।"[१०]

卐



१०. वही, पृ. ९०।

# माँ के सान्निध्य में (१९)

*स्वामी अरूपानन्द*

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्री श्रीमायेर कथा' से अनुवाद किया है, स्वामी निखिलात्मानन्द ने जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र, नारायणपुर, जिला बस्तर के संचालक हैं। –स.)

## १४ जुलाई १९१३, जयरामवाटी

दोपहर में मैं और मुकुन्द (साहा) माँ के कमरे के बरामदे में खाने के लिए बैठे थे। माँ बड़े मामा के बरामदे के पूर्व की ओर बैठी थीं। ऐसे समय में नलिनी गीले कपड़े में आकर कहने लगी कि कौए ने उसके कपड़े में पेशाब कर दी है इसलिए वह फिर से नहाकर आयी है।

माँ—मैं बूढ़ी हो चली पर मैंने कभी नहीं सुना कि कौआ पेशाब करता है। बहुत पाप, महापाप न करने से क्या मन अशुद्ध होता है? कृष्ण बोस की बहन को भी ऐसी शुचिता की सनक थी। गंगा में डुबकी लगाती और लोगों से पूछती, 'क्या मेरी चोटी डूबी?' शुचिता की ऐसी सनक हो जाती है कि मन किसी प्रकार भी शुद्ध नहीं होता है। मन की अशुद्धता शीघ्रता से नहीं जाती है। और शुचिता की सनक जितनी बढ़ाओगे उतनी ही बढ़ेगी। सब जितना बढ़ाओगे उतना ही बढ़ता जायेगा।

मैं—मैंने महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) को कुत्तों को दुलारने के बाद ठाकुर पूजा करने के लिए जाते देखा है। उस समय किसी ने हाथ में जल दे दिया तो उसी से आचमन जैसा करके हाथ धो लिया। उस समय सब काम के लिए गंगा जल का ही उपयोग होता था।

माँ—उनकी बात अलग है । उनका मन कितना पवित्र है । साधु का मन है तो ! गंगा तट पर जो निवास करते हैं वे सब देवता हैं । देवता न होने से क्या गंगा तट पर वास हो सकता है ? फिर गंगा स्नान से रोज का पाप रोज नष्ट हो जाता है ।

नलिनी—गोलाप दीदी एक दिन उद्बोधन आफिस का पैखाना साफ करके केवल कपड़ा बदलकर ठाकुर का फल काटने बैठ गयी । मैंने कहा, 'यह क्या गोलाप दीदी ! गंगा में नहा आओ न ?' गोलाप दीदी ने कहा, 'तेरी इच्छा हो तो तू जा ।'

माँ—गोलाप का मन कितना शुद्ध और कितना ऊँचा है, इसीलिए उसमें शुचि अशुचि का इतना विचार नहीं है । वह शुचिता अशुचिता की परवाह नहीं करती । उसका यह अन्तिम जन्म है । तुम लोगों को ऐसा मन होने के लिए दूसरा जन्म लेना होगा ।

"गंगा तट के दोनों ओर आठ मील दूर तक पवित्र वायु बहती है । यह वायु रूपी नारायण है । बड़ी तपस्या करने से यह मन शुद्ध होता है । बिना साधना के शुद्ध स्वरूप भगवान् कभी मिलते नहीं ।

"भगवान् की प्राप्ति से भला क्या होता है ? क्या दो सिंग निकल आते हैं ? नहीं, उससे मन शुद्ध होता है । शुद्ध मन से ज्ञान चैतन्य की प्राप्ति होती है ।"

मैं—जो भगवान् के ऊपर निर्भर करके पड़े रहते हैं उनका बिना साधना किये कैसे होता है ?

माँ—भगवान् के ऊपर निर्भर करके जो पड़ा रहता है, वही उसकी साधना है । अहा ! नरेन ने कहा था, 'भल लाखों जन्म लेना पड़े पर उसमें काहे का भय ?' इसीलिए

तो ज्ञानी को जन्म ग्रहण करने में कोई भय नहीं होता। उनमें तो कोई पाप नहीं होता। सारा भय तो अज्ञानी को होता है। वह ही बद्ध होकर पाप में लिप्त होता है। लाखों जन्म भोगकर, कष्ट पाकर अन्त में उसका मन भगवान् में जाता है।

मैं—बहुत भुगतने के बाद शिक्षा मिलती है तब जाकर ज्ञान की प्राप्ति होती है।

माँ—हाँ, ढाक, ढोल आदि के रूप में सब बजने के बाद जब वह धुनियाँ के हाथ में पड़ता है तभी तुहूँ, तुहूँ की आवाज करता है।[1]

श्री रामलाल दादा की पुत्री के विधवा होनेका समाचार सुनकर श्री माँ ने कहा, "ठाकुर ने कहा था कि वे सब देव वंश की पुत्रियाँ हैं। वे लोग कभी संसारी नहीं होंगी। इसलिए वे विधवा हैं। रामलाल के कष्ट का क्या कहूँ। लड़के की मृत्यु हो गयी। आज रहने से वह १२-१३ वर्ष का होता। उनके लड़के 'दादाजी, दादाजी' कहकर नाचते

१. यह कहानी श्रीरामकृष्ण बहुधा सुनाया करते थे—गाय 'हम्बा हम्बा' (अर्थात् हम हम ) करती है इसीलिए उसे इतना कष्ट भोगना पड़ता है। उसे हल में जुतना पड़ता है, गर्मी बरसात में काम करना पड़ता है। फिर कसाई के हाथ में पड़कर वह मारी जाती है और उसके चमड़े से जूता, ढोल आदि बनाया जाता है। ढोल आदि को खूब पीटा जाता है तब भी वह 'हम हम' की आवाज करता है। इस प्रकार उसके दुःख का अन्त नहीं होता। अन्त में उसकी आँतों से रुई धुनकने के धनुष का तार बनाया जाता है। जब धुनियाँ उसे धुनकता है तो अब वह 'हम्बा हम्बा' नहीं करता वरन कहता है 'तुहूं तुहू" अर्थात् तू तू। तभी उसके दुःखों का अन्त हो पाता है।

हैं। यह उनका अन्तिम जन्म है इसीलिए यहाँ आकर जन्म लिया है।"[१]

**१८ सितम्बर १९१३, जयरामवाटी**

माँ ने किसी भक्त को पत्र लिखवाया, "शरीर धारण करने में कोई सुख नहीं है। संसार दुःखमय ही है। केवल भगवान् के नाम कीर्तन में ही सुख है। जिन पर ठाकुर की कृपा हुई है केवल वे ही उन्हें भगवान के रूप म जान पाये हैं। और केवल यही उनका सुख है।"

एक संन्यासी जयरामवाटी में श्री माँ का दर्शन करके ऋषिकेश गये थे। कुछ दिन बाद ही उन्होंने माँ को लिखा, "माँ तुमने कहा था कि समय आने पर ठाकुर का दर्शन प्राप्त होगा पर अभी तक कुछ हुआ नहीं।" माँ ने पत्र सुनकर कहा, "लिख दो उसे कि तुम ऋषिकेश गये हो जानकर ठाकुर तुम्हारे लिए वहाँ पहुँचे नहीं रहेंगे।" जब साधु हुआ है तो भगवान् को नहीं पुकारेगा तो क्या करेगा ? जब उनकी इच्छा होगी, वे दर्शन देंगे।

उद्‌बोधन

एक लड़का माँ से दीक्षा प्राप्त करने दो तीन बार आया था। लड़का गरीब था तथा बड़े कष्ट से उसका आना हुआ था। किन्तु उसका दुर्भाग्य था कि माँ का शरीर अस्वस्थ होने के कारण उसकी दीक्षा नहीं हो पायी। इस बार उसने हम लोगों से अनुरोध करते हुए लिखा था, "इस बार भी द्वार बन्द मत रखियेगा। मुझे बहुत कष्ट उठाकर आना होता है। मैं जानना चाहता हूँ कि इस बार मेरी

---

१. श्री रामलाल दादा और शिबू दादा के लड़के श्री श्रीठाकुर के चित्र को देखकर इसी प्रकार आनन्द प्रकट करते थे।

दीक्षा होगी या नहीं" इत्यादि । उसका पत्र पढ़कर माँ को सुनाया गया । माँ ने उसके उत्तर में कहा, "मेरा शरीर जब अस्वस्थ होगा तब चाहे कोई भी क्यों न आये, उसे लौट जाना होगा । शरीर अच्छा रहने पर भी किसी को निमंत्रण देकर नहीं बुला पाऊँगी । जिसका जैसा भाग्य होता है जिसके जैसे कर्म होते हैं उसके अनुरूप ही उसे सुयोग सुविधा प्राप्त होती है । किसी किसी को तो मेरे अस्वस्थ होने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से दर्शन की भी सुविधा नहीं हो पाती है । उसका भाग्य यदि ऐसा हो तो मैं क्या कर सकती हूँ । कह सकते हो कि आने जाने में बहुत रुपया खर्च होता है तथा सब के पास पैसा नहीं होता । पर गुरु चाहे कितनी बार भी क्यों न लौटा दें, जो कृपा चाहता है वह भिक्षा माँगकर भी आ सकता है । सच बात तो यह है, जिसका भव सागर पार जाने का समय होगा वह बन्धन तोड़कर चला आयेगा । उसे कोई बाँधकर नहीं रख पायेगा । धन का अभाव, चिट्ठी की प्रतीक्षा, आकर लौट जाने का भय—यह सब कुछ भी नहीं है ।" अन्त में बोलीं, "आजकल शरीर थोड़ा अच्छा है, उसे लिख दो कि वह अभी आ सकता है ।"

एक महिला नें लिखा, "माँ, मेरी उम्र कम है । सास ससुर तुम्हारे पास आने नहीं देते हैं । उनकी असहमति में मैं कैसे आऊँ ? आपकी कृपा लाभ करने की इच्छा है," इत्यादि । मैंने उसे लिख देने के लिए कहा, "बेटी, तुम्हें यहाँ आने की आवश्यकता नहीं । जो भगवान् सारे विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं तुम उन्हें ही पुकारो । वे ही तुम पर कृपा करेंगे ।"

**३० सितम्बर, १९१८ उद्‌बोधन, ठाकुर घर**

सबेरे माँ पूजा के लिए फल काट रही थीं। मैं किसी भक्त का पत्र पढ़कर माँ को सुना रहा था। पत्र में भगवान् के प्रति खीज से भरा हुआ भाव था। माँ ने उसके उत्तर में कहा, "ठाकुर कहा करते थे कि शुकदेव, व्यास आदि तो चींटे मात्र थे। ईश्वर तो अनन्त है। तुम उन्हें यदि न पुकारो तो उनका क्या होने जाने का ? और भी कितने ही लोग हैं जो ईश्वर को मानते ही नहीं। यदि तुम उन्हें न पुकारो तो यह तुम्हारा ही दुर्भाग्य है। भगवान् की माया ही ऐसी है कि वे सब को इसी प्रकार भुलाये रखते हैं, कहते हैं—"मजे में हैं वे लोग, तो रहने दो।"

मैं—माँ, ये (पत्र लेखक) भगवान् को चाहते नहीं, ऐसी बात नहीं। न चाहने से भला ऐसा प्रश्न इनके मन में कैसे जागता ? पर जिसे हम अपना समझकर पकड़ रखना चाहते हैं वे ही अगर पकड़ में न आवें तो हृदय में बड़ा कष्ट होता है। बुद्ध, चैतन्यदेव, ईसा मसीह इन्होंने भक्तों के लिए कितना सब किया था जिससे उनका कल्याण होवे।

माँ—हमारे ठाकुर का भी तो यही भाव था। पर मुझे सब समय (सब भक्तों का) ख्याल नहीं रहता। मैं ठाकुर से कहती हूँ, "ठाकुर, जो जहाँ हैं, तुम सबका कल्याण करो। मुझे सबकी याद नहीं रहती। और देखो, वे ही सब कुछ कर रहे हैं। ऐसा न होने से क्या इतने सब आते ?

मैं—यह तो सच है। पर मनुष्य भले काली, दुर्गा इन सबको ईश्वर समझकर विश्वास कर ले किन्तु मनुष्य को ईश्वर के रूप में विश्वास करना क्या सम्भव हो पाता है ?

माँ—यह उनकी कृपा से होता है।

बाद में एक दिन उस भक्त के आने पर मैंने माँ से कहा, "माँ, इसी ने वह पत्र लिखा था।" माँ ने कहा, "इसने ? यह तो अच्छा लड़का है।" वे उस भक्त से कहने लगीं, पानी का स्वभाव ही निम्नगामी होता है पर उसे भी सूर्य की किरण आकाश की ओर खींच लेती है। उसी प्रकार मन का स्वभाव ही है नीचे की ओर—भोग में। उसे भी भगवान की कृपा उर्ध्वगामी बना देती है।"

साढ़े दस बजे का समय होगा। एक गृहस्थ शिष्य माँ को प्रणाम करने आये। प्रणाम कर माँ से कहने लगे, "माँ, ठाकुर का दर्शन क्यों नहीं होता ?" माँ ने कहा, "उन्हें पुकारते रहो, समय आने पर होगा। कितने ही ऋषि मुनि युगों तक तपस्या करके भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाये और तुम लोगों को एकदम से हो जायेगा ? इस जन्म में न सही तो अगले जन्म में होगा। यदि अगले जन्म में नहीं हुआ तो बाद वाले जन्म में हो जायेगा। भगवान् को पाना क्या इतना सरल है ? पर ठाकुर ने इस बार सरल रास्ता दिखा दिया है।"

भक्त के बाहर जाने पर माँ ने कहा, "अभी संसार करके आया, बीस बच्चों का बाप बनकर आया और कहता है, 'ठाकुर का दर्शन क्यों नहीं होता ?" ठाकुर के पास महिलाएँ जाती थीं। वे उनसे कहतीं, 'ईश्वर में मन क्यों नहीं जाता ? मन स्थिर क्यों नहीं होता', यही सब। ठाकुर उनसे कहते, 'अरे, शरीर से सूतिकागार की गन्ध गयी नहीं, आगे सूतिकागृह की गन्ध खतम हो। अभी से क्या रे ? धीरे-धीरे होगा। इस जन्म में यह दर्शन हुआ, अगले जन्म में और भी दर्शन आदि होगा, तब होगा।'

"जब तक शरीर है तब तक अनायास ही दर्शन मिल

जाता है। जैसे मैं यहाँ हूँ तो आने से ही दर्शन मिल जायगा। अब ठाकुर को आँखों से देख पाना भला कितनों के भाग्य में सम्भव है? विजय गोस्वामी ने उन्हें ढाका में देखा था——उनके शरीर को दबाकर। ठाकुर ने यह सुनकर कहा था, 'आत्मा का इस प्रकार बाहर निकल आना, अच्छा नहीं है। लगता है अब शरीर अधिक दिन तक नहीं रहेगा।'

"किसे भगवान् का दर्शन मिला है, बोलो तो सही? नरेन को उन्होंने दर्शन करा दिया था। शुकदेव, व्यास, शिव आदि तो चींटे मात्र हैं। स्वप्न में भले उनका दर्शन मिल जाय पर वे भौतिक देह धारणकर दर्शन देवें, यह बड़े ही भाग्य की बात है।

(उत्तेजित स्वर में) "यदि मन शुद्ध हो तो ध्यान-धारणा क्यों न होगी? दर्शन क्यों न होगा? जप करने बैठने से अपने आप शरीर के भीतर से गर गर करके नाम निकलने लगेगा, बिना किसी प्रयास के।

"जप ध्यान सब यथासमय आलस्य छोड़कर करना चाहिए। दक्षिणेश्वर में एक दिन शरीर अस्वस्थ होने के कारण मैं थोड़ी देर से उठी। तब रोज रात में तीन बजे उठती थी। दूसरे दिन और देर करके उठी। क्रमशः देखती हूँ कि सबेरे उठने की इच्छा नहीं हो रही है। तभी मन में आया, अरे! यह तो आलस्य ने मुझे घेर लिया है। उसके बाद जोर लगाकर उठने लगी तब सब पहले की ही भाँति होने लगा। इन सब बातों में जोर लगाकर अभ्यास करना होता है।

साधन, भजन, तीर्थदर्शन, अर्थोपार्जन चाहे जो बोलो, सब कम उम्र में ही कर लेना चाहिए। मैंने काशी,

वृन्दावन में पैदल घूम-घूमकर कितना दर्शन किया है। अब तो दो हाथ दूर जाने में पालकी की आवश्यकता होती है—पकड़-पकड़कर ले जाना होता है। बुढ़ापे में कफ श्लेष्मा से भरे शरीर में शक्ति नहीं होती, मन में बल नहीं होता। तब क्या कोई काम हो सकता है? ये यहाँ के लड़के सब कम उम्र में भगवान् में मन लगा रहे हैं, यह ठीक हो रहा है, ठीक समय में हो रहा है। (मुझे) बेटा, चाहे साधन कहो या भजन कहो सब अभी इसी उम्र में कर लेना। बाद में क्या हो पाता है? जो कुछ कर सकते हो, वह अभी ही।"

मैं—अभी जो तुम्हारी कृपा लाभ कर रहे हैं वे तो भाग्यवान हैं। इसके बाद जो आयेंगे उनका क्या होगा?

माँ—यह क्या? उनका नहीं होगा? भगवान् सब समय सर्वत्र विद्यमान हैं। ठाकुर विद्यमान हैं। उनकी कृपा से होगा। अन्य सब स्थानों मं क्या नहीं हो रहा है?

मैं—प्रेम पाने से ही तो प्राण व्याकुल होंगे। तुम हम लोगों ो प्यार करती ही कहाँ हो?

माँ—मैं तुम्हें प्यार नहीं करती? जो मेरे लिए थोड़ा बहुत भी कुछ करता है मैं उसे प्यार देती हूँ फिर तुमने तो इतना किया है। घर में जब भी किसी वस्तु पर हाथ जाता है तो तुम्हारी याद हो आती है। बहुत ही प्यार करती हूँ। पर शरीर को लेकर तो घनिष्ठ नहीं हुआ जा सकता? और वैसा करना क्या ठीक है? तुम लोग जितने यहाँ हो प्राय: सभी की याद आती है। पर जो दूर हैं उनके लिए ठाकुर से कहती हूँ—'ठाकुर, तुम उन लोगों को देखो, मैं सब समय उन लोगों को याद नहीं रख पाती।'

## उद्बोधन (ठाकुर घर)

माँ अपने तख्त पर बैठी थीं। मैं उन्हें भक्तों का पत्र

पढ़कर सुना रहा था। कृष्णलाल महाराज भी थे। पत्र में लिखा था—मन स्थिर नहीं होता है—इत्यादि। माँ यह सुन काफी उत्तेजित होकर बोलीं, "रोज यदि पन्द्रह-बीस हजार जप कर सके तो मन स्थिर अवश्य होगा। मैंने देखा है कृष्ण-लाल ! यथार्थ में होता है। पहले करे, यदि न हो तब कहे। पर जरा मन लगाकर करना होगा। वह तो कोई करेगा नहीं, केवल यही कहता रहेगा कि मन स्थिर नहीं होता।

एक भक्त ने प्रणाम करके उनसे ध्यान, जप आदि के सम्बन्ध पूछा। माँ ने कहा, "निश्चित संख्या में भगवान् का नाम जप तथा ऊँगलियों द्वारा उनकी गिनती—यह सब मन को केन्द्रित करने के लिए है। मन इधर-उधर भागना चाहता है पर इन उपायों से वह भगवान् के प्रति आकृष्ट होता है। जब जप करते-करते भगवान् के रूप का दर्शन होता है और वह ध्यानस्थ हो जाता है तब जप भी नहीं रह जाता। ध्यान होने से तो सब ही हो गया।

"मन चंचल है इसीलिए पहले पहल मन को स्थिर करने के लिए साँस को थोड़ा-थोड़ा रोककर ध्यान करने की चेष्टा करनी चाहिए। उससे मन के स्थिर होने में सहायता मिलती है। किन्तु वैसा अधिक नहीं करना चाहिए क्योंकि उससे सिर गरम हो जाता है। चाहे भगवान् दर्शन कहो या ध्यान कहो सब मन ही है। मन के स्थिर होने से सभी कुछ होता है।

"मनुष्य तो भगवान् को भूला ही हुआ है। इसीलिए जब जब आवश्यकता होती है तब वे स्वयं एक एक बार अवतरित होकर साधना करके मार्ग दिखा जाते हैं। इस बार उन्होंने त्याग का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा है कि सौ वर्षों तक वे बच्चों को लेकर रहेंगे।" 卐